प्रकाशक
सीताराम सेकसरिया
शुद्ध-खादी-भंडार
१३२।१, हरिसन रोड, कलकत्ता

मुद्रक—सजनीकान्त दास
'प्रवासी-प्रेस'
१२०।२, अपर सरकुलर रोड
कलकत्ता

प्रथम संस्करण १०,०००
दो आना। सजिल्दका चार आना। ज्येष्ठ, १९८७

# अनुक्रमणिका

## शुद्धिपत्र

| पृष्ठ | श्लोक | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| ४ | १४ | १ | रथ | रथमें |
| १६ | २० | ३ | अनित्य | नित्य |
| ५६ | ६ | ३ | पाता है | पाता, पर मुझे पाता है। |
| ६६ | २४ | १ | अपर्ण | अर्पण |
| ७६ | ८-६ | २ | श्वास लेते, आंख | श्वास लेते, बोलते छोड़ते, लेते, आंख |
| १११ | १ | २ | अध्याय | अध्यात्म |
| ११६ | टिप्पणी | २ | भोगके | भोग |
| ११६ | " | १० | चक्रमें घूमता जाता | चक्रमें लौट आता |

१२० पृष्ठके २८वें श्लोकके बाद नीचेकी टिप्पणी पढ़ें—
टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्मसे समभाव प्राप्त किया है, उसे केवल सब पुण्योंका फल ही नहीं मिलता बल्कि परम मोक्षपद भी मिलता है।

---

आपको पुस्तकमें कहीं कहीं रेफ, एकार, ऐकार आदि मात्रायें टूटी मिलेंगी। इन्हें शुद्धिपत्रमें स्थान नहीं दिया गया। कारण, अनेक पुस्तकोंमें वह मात्रायें उठी हैं, अनेकमें नहीं। जहां टूटी मिलें वहां उन्हें सुधारकर पढ़ना चाहिए।

# प्रस्तावना

[ १ ]

जैसे स्वामी आनन्द इत्यादि मित्रोंके प्रेमके वश होकर, मैंने सत्यके प्रयोग मात्रके लिये आत्म-कथा लिखनी आरम्भ की थी, वही बात गीताजीके अनुवादके सम्बन्धमें भी हुई है। "आप गीताका जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझमें आ सकता है, जब आप एक बार समूची गीताका अनुवाद कर जायँ और उसपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह सब एक बार पढ़ जायँ। इधर-उधरके श्लोकोंसे अहिंसादिका प्रतिपादन करना यह मुझे तो उचित नहीं जान पड़ता।" यह स्वामी आनन्दने असहयोगके ज़मानेमें मुझसे

कहा था। मुझे उनकी दलीलमें सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया कि "अवकाश मिलनेपर यह करूंगा।" फिर मैं जेल गया, वहां तो गीताका अध्ययन कुछ विशेष गहराईसे करनेका मौका मिला। लोकमान्यका ज्ञानका भण्डार पढ़ा। उन्होंने ही पहले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती अनुवाद प्रेम-सहित भेजे थे और मराठी न पढ़ सकूं तो गुजराती तो अवश्य पढ़ूं, यह अनुरोध किया था। जेलके बाहर तो उसे नहीं पढ़ सका, पर जेलमें गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़नेपर गीताके सम्बन्धमें अधिक पढ़नेकी इच्छा हुई और गीता सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उलटे पलटे।

मुझे गीताका प्रथम परिचय एडविन आर्नल्डके पद्य-अनुवादसे सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीताका गुजराती अनुवाद

पढ़नेकी तीव्र इच्छा हुई। और जितने अनुवाद हाथ लगे, पढ़ गया। परन्तु ऐसा पठन मुझे अपना अनुवाद जनताके सामने रखनेका अधिकार बिलकुल नहीं देता। दूसरे, मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजरातीका ज्ञान विद्वत्ताके हिसाबसे कुछ नहीं है। फिर मैंने अनुवाद करनेकी धृष्टता क्यों की?

गीताको मैंने जैसा समझा है, उसी तरह उसका आचरण करनेका मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियोंका सतत उद्योग है। गीता हमारे लिये आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ है। तद्वत् आचरण करनेमें निष्फलता नित्य आती है, पर यह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है; इस निष्फलतामें हमें सफलताकी उगती किरणोंकी झलक दिखाई देती है। यह नन्हा जन-समुदाय

जिस अर्थको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न करता है, वह अर्थ इस अनुवादमें है।

इसके सिवा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र सरीखे जिन्हें अक्षर-ज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृतमें गीता समझनेका समय नहीं है, न इच्छा है, परन्तु जिन्हें गीता-रूपी सहारेकी आवश्यकता है, उन्हींके लिए यह अनुवाद है। गुजराती भाषाका मेरा ज्ञान कम होनेपर भी उसके द्वारा गुजरातियोंको मेरे पास जो कुछ पूंजी हो, वह दे जानेकी मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह अवश्य चाहता हूं, कि इस गन्दे साहित्यके प्रवाहके जोरके समयमें इस हिन्दूधर्ममें अद्वितीय गिने जानेवाले ग्रन्थका सरल अनुवाद गुजराती जनताको मिले और उससे वह उस प्रवाहका मुकावला करनेकी शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषामें दूसरे गुजराती अनुवादोंकी अवहेलना नहीं है। उन सबका अपना स्थान भले ही हो, पर उनके पीछे अनुवादकोंका आचार-रूपी अनुभवका दावा हो, यह मेरी जानकारीमें नहीं है। इस अनुवादके पीछे अड़तीस वर्षके आचारके प्रयत्नका दावा है। इस कारणसे मैं यह अवश्य चाहता हूं कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन जो धर्मको आचारमें लानेकी इच्छा रखते हों, वे इसे पढ़ें, विचारें और इसमेंसे शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवादके साथ मेरे साथियोंका परिश्रम विद्यमान है। मेरा संस्कृत-ज्ञान बहुत अधूरा होनेके कारण शब्दार्थपर मुझे पूरा विश्वास न रहने-भरकी दृष्टिसे इस अनुवादको विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला देख गये हैं।

अब गीताके अर्थपर आता हूं।

सन् १८८८-८९ में जब गीताका प्रथम दर्शन हुआ, तभी मेरे मनमें यह बात आयी, कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक-युद्धके वर्णनके बहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्व युद्धका ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओंकी रचना हृदयगत युद्धको रोचक बनानेके लिये एक कल्पनाके रूपमें है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्मका और गीताका विशेष विचार करनेपर पक्की हो गयी। महाभारत पढ़नेके बाद उपरोक्त विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थको मैं आधुनिक अर्थमें इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्वमें ही हैं।

पात्रोंकी अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्तिका वर्णन करके व्यास भगवानने राजा प्रजाके इतिहासको धो बहाया है। इसमें वर्णित पात्र मूलमें ऐतिहासिक हो सकते हैं, परन्तु महाभारतमें तो व्यास भगवानने इनका उपयोग केवल धर्मका दर्शन करानेके लिये ही किया है।

महाभारतकारने भौतिक युद्धकी आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःखके सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा।

इस महाग्रन्थमें गीता शिरोमणि-रूपसे विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक-युद्ध-व्यवहार सिखानेके बदले स्थितप्रज्ञके लक्षण सिखाता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ है कि स्थितप्रज्ञका ऐहिक युद्धके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह

बात इसके लक्षणमें ही है। साधारण पारिवारिक झगड़ोंके औचित्य अनौचित्यका निर्णय करनेके लिये गीता सरीखी पुस्तकका होना संभव नहीं है।

गीताके कृष्ण मूर्तिमान शुद्धसम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं। यहां कृष्ण नामसे अवतारी-पुरुषका निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतारका पीछेसे आरोपण हुआ है।

अवतारसे तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष-विशेष। जीवमात्र ईश्वरके अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषामें सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान होता है, उसीको भावी प्रजा अवतार-रूपसे पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता; इसमें न तो ईश्वरके बड़प्पनमें ही कमी आती है, न सत्यको ही आघात

पहुंचता है। 'आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।' जिसमें धर्म-जागृति अपने युगमें सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणीसे कृष्ण-रूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्ममें साम्राज्य उपभोग कर रहा है।

यह दृश्य मनुष्यकी अन्तिम प्रिय अभिलाषाका सूचक है। मनुष्यको ईश्वर-रूप हुए बिना चैन नहीं पड़ती, शान्ति नहीं मिलती। ईश्वर-रूप होनेका प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्म-दर्शन जैसे सब धर्मग्रन्थोंका विषय है, वैसे ही गीताका भी है। पर गीताकारने इस विषयका प्रतिपादन करनेको गीता नहीं रची। गीताका आशय आत्मार्थीको आत्म-दर्शन करनेका एक अद्वितीय उपाय बतलाना है। जो चीज़ हिन्दू-धर्मग्रन्थोंमें

यत्र तत्र दिखायी देती है, उसे गीताने अनेक रूपसे अनेक शब्दोंमें पुनरुक्तिका दोष मत्थे लेकर भी अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है कर्मफलत्याग।

इस मध्यबिन्दुके चारों ओर गीताकी सारी सजावट की गयी है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामण्डलकी भांति सज गये हैं। जहां देह है, वहां कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है। तथापि शरीरको प्रभु-मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है यह सब धर्मोंने प्रतिपादन किया है। परन्तु कर्ममात्रमें कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोषकी होती है। तब कर्मबन्धनमेंसे अर्थात् दोषस्पर्शमेंसे कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें दिया है:—'निष्काम कर्मसे, यज्ञार्थ कर्म करके,

कर्मफलका त्याग करके, सब कर्मोंको कृष्णार्पण करके अर्थात् मन, वचन और कायाको ईश्वरमें होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफलत्याग कहने-भरसे ही नहीं हो जाती। यह केवल बुद्धिका प्रयोग नहीं है। यह तो हृदय-मन्थनसे ही उत्पन्न होती है। यह त्यागशक्ति पैदा करनेके लिये ज्ञान चाहिये। एक प्रकारका ज्ञान तो बहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हें कण्ठ रहते हैं, परन्तु उनमेंसे अधिकांश भोगादिमें लीन रहते हैं। ज्ञानका अतिरेक शुष्क पांडित्यके रूपमें न हो जाय, इससे गीताकारने ज्ञानके साथ भक्तिको मिलाकर उसे प्रथम स्थान दिया है। भक्ति बिना ज्ञान बेकार है। इसलिए कहा है, 'भक्ति करो, तो ज्ञान मिल ही जायगा' पर भक्ति 'तलवारकी धार पै धावनो है',

इससे गीताकारने भक्तके लक्षण स्थितप्रज्ञके-से बतलाये हैं।

तात्पर्य यह कि गीताकी भक्ति भोंदूपन नहीं है। अंधश्रद्धा नहीं है। गीतामें बताये उपचारोंका बाह्यचेष्टा या क्रियाके साथ कमसे कम सम्बन्ध है। माला, तिलक और अर्घ्यादि साधनोंका भले ही भक्त उपयोग करे, पर वे भक्तिके लक्षण नहीं हैं। जो किसीका द्वेष नहीं करता, जो करुणाका भण्डार है, ममतारहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसका निश्चय कभी बदलता नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण कर दी है, जिससे लोग नहीं घबराते, जो लोगोंका भय नहीं रखता, जो हर्ष, शोक, भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है,

जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी और निन्दासे ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री पुरुषोंके लिए संभव नहीं है।

इससे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना यही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे एक रुपया देकर जहर भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ही यह नहीं हो सकता कि ज्ञान या भक्तिसे बन्ध भी लाया जा सके और मोक्ष भी। यहां तो साधन और साध्य बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु है, साधनकी

पराकाष्ठा मोक्ष है। और गीताके मोक्षका अर्थ है परम शान्ति।

इस तरहके ज्ञान और भक्तिको कर्मफलत्यागकी कसौटीपर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पनामें शुष्क पण्डित भी ज्ञानी माना जाता है। उसे कोई काम करनेको नहीं होता। हाथसे लोटा तक उठाना भी उसके लिये कर्मबंधन है। यज्ञशून्य जहां ज्ञानी माना जाय, वहां लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रियाको स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पनामें भक्तसे मतलब है भोंदू, माला लेकर जप जपनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी मालामें विक्षेप पड़ता है। इसलिये वह खाने-पीने आदि भोग भोगनेके समय ही मालाको हाथसे छोड़ता है। चक्की चलाने या रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिये कभी नहीं।

इन दोनों वर्गोंको गीताने साफ सुना दिया है कि "कर्म विना किसीने सिद्धि नहीं पायी। जनकादि भी कर्म द्वारा ही ज्ञानी हुए थे। यदि मैं भी आलस्य-रहित होकर कर्म न करता रहूं तो इन लोकोंका नाश हो जाय।" तो फिर लोगोंके लिये तो कहना ही क्या रहा?

परन्तु एक ओरसे कर्ममात्र बंधनरूप है यह निर्विवाद है। दूसरी ओरसे देही इच्छा अनिच्छासे भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टायें कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन-मुक्त कैसे रह सकता है? जहां तक मुझे पता है, इस गुत्थीको जिस तरह गीताने सुलझाया है, उस तरह दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थने नहीं सुलझाया। गीताका कहना है कि "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो" "आशारहित

होकर कर्म करो” “निष्काम होकर कर्म करो।” यह गीताकी वह ध्वनि है जो भुलायी नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। जो कर्म करते हुए भी उसका फल छोड़ता है, वह चढ़ता है।

यहां फलत्यागका अर्थ कोई यह न समझे कि त्यागीको फल नहीं मिलता। गीतामें कहीं ऐसे अर्थको स्थान नहीं है। फलत्यागसे मतलब है फलके सम्बन्धमें आसक्तिका अभाव। वास्तवमें तो फलत्यागीको हजार गुना फल मिलता है। गीताके फलत्यागमें तो असीम श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामकी बात सोचता रहता है, वह बहुत बार कर्म—कर्तव्य—भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता आती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है। और फिर वह न-करने-योग्य करने लगता है, एक

कर्मसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें प्रवृत्त होता जाता है। परिणामका चिन्तन करनेवालेकी स्थिति विषयान्धकी-सी हो जाती है और अन्तमें वह विषयीकी भांति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करनेके लिये चाहे जैसे साधनोंसे काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्तिके ऐसे कटु परिणाममेंसे गीताकारने अनासक्ति अर्थात् कर्मफलत्यागका सिद्धान्त निकाला और उसे संसारके सामने अत्यन्त आकर्षक भाषामें रखा है। सामान्य मान्यता यह होती है, कि धर्म और अर्थ एक दूसरेके विरोधी हैं, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहारमें धर्मका पालन नहीं हो सकता, धर्मकी आवश्यकता नहीं होती, धर्मका उपयोग केवल मोक्षके लिये किया जा सकता है।

धर्मकी जगह धर्म शोभा देता है और अर्थकी जगह अर्थ।" मेरी समझमें गीताकारने इस वहमको दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहारके बीचमें ऐसा भेद नहीं रखा। वरन् व्यवहारमें धर्मको चरितार्थ किया है। जो धर्म व्यवहारमें न लाया जा सके वह धर्म नहीं है, मेरी समझमें गीतामें यह सूचना विद्यमान है। अर्थात् गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे हों कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्यको अनेक धर्मसंकटोंमेंसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म सहज ही त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलतामेंसे शान्ति उत्पन्न होती है। फलत्याग अर्थात् परिणामके सम्बन्धमें लापरवाही, यह अर्थ भी नहीं है। परिणाम, साधनका

विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। यह होनेके बाद जो मनुष्य परिणामकी इच्छा किये बिना साधनमें तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।

इस दृष्टिसे विचार करते हुए मुझे प्रतीत हुआ है कि गीताजीकी शिक्षाको कार्यरूपमें परिणत करनेवालेको सहज ही सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्ति बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्यके कार्यको लिया जाय, यह मालूम होगा कि उसके पीछे परिणामकी इच्छा अवश्य है। परन्तु अहिंसाका प्रतिपादन गीताका विषय नहीं है। गीताकालके पहले भी अहिंसा परम धर्मरूप मानी जाती थी। गीताको तो अनासक्तिका सिद्धान्त

प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्यायमें ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीताको अहिंसा मान्य होती अथवा अनासक्तिमें अहिंसा अपने आप आ ही जाती है, तो गीताकारने भौतिक युद्धको उदाहरणके रूपमें भी क्यों लिया? गीतायुगमें अहिंसा धर्म मानी जानेपर भी भौतिक युद्ध एक साधारण वस्तु होनेके कारण गीताकारको ऐसे युद्धका उदाहरण लेते हुए संकोच नहीं हुआ और न हो सकता है।

परन्तु फलत्यागके महत्त्वपर विचार करते हुए गीताकारके मनमें क्या विचार थे, उसने अहिंसाकी मर्यादा कहां निश्चित की थी इसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। कवि महत्त्वके सिद्धान्त संसारके सम्मुख उपस्थित करता है; इससे यह नहीं होता, कि वह सदा अपने

सिद्धान्तोंका महत्त्व पूर्णरूपसे जानता है या जाननेके बाद उन्हें पूर्णरूपसे भाषामें उपस्थित कर सकता है। इसमें काव्य और कविकी महिमा है। कविके अर्थका अन्त ही नहीं है। जैसे मनुष्यका वैसे ही महावाक्योंके अर्थका भी विकास होता ही रहता है। भाषाओंके इतिहासकी जांच कीजिए तो मालूम होगा, कि अनेक महान् शब्दोंके अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीताके अर्थके सम्बन्धमें भी है। गीताकारने स्वयं महान् रूढ़ शब्दोंके अर्थका विस्तार किया है। यह बात गीताको इधर-उधरसे देखनेपर भी मालूम हो जाती है। गीतायुगके पहले सम्भव है यज्ञमें पशुहिंसा मान्य रही हो, पर गीताके यज्ञमें उसकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जप-यज्ञ यज्ञका राजा माना गया है। तीसरा अध्याय

बतलाता है कि यज्ञ अर्थात् प्रधानतः परोपकारार्थ शरीरका उपयोग। तीसरे और चौथे अध्यायको मिलाकर और भी व्याख्यायें निकाली जा सकती हैं, पर पशु-हिंसा घटित नहीं हो सकती।

वही बात गीताके संन्यासके अर्थके सम्बन्धमें भी है। कर्ममात्रका त्याग गीताके संन्यासको भाता ही नहीं। गीताका संन्यासी अतिकर्मी होनेपर भी अति अकर्मी है। इस तरह गीताकारने महान शब्दोंका व्यापक अर्थ करके, अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकारकी भाषाके अक्षरोंसे यह बात भले ही निकलती हो, कि सम्पूर्ण फलत्यागी द्वारा भौतिकयुद्ध हो सकता है, परन्तु गीताकी शिक्षाको पूर्णरूपसे कार्यरूपमें परिणत करनेका ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करनेपर, मुझे तो नम्रता-पूर्वक

यही प्रतीत हुआ है, कि सत्य और अहिंसाका पूर्णरूपसे पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्मफल-त्याग मनुष्यके लिए असम्भव है।

गीता सूत्र-ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान धर्म-काव्य है। उसमें जितने गहरे उतरिये उतने ही उसमेंसे नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाजके लिये है, उसमें एक ही बात अनेक प्रकारसे कह दी है। इसलिए गीताके महाशब्दोंका अर्थ युग-युगमें बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। वह मन्त्र जिस रीतिसे सिद्ध किया जा सकता है, उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एकके लिए जो विहित होता है वही दूसरेके

लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देशमें जो विहित होता है, वह दूसरे कालमें, दूसरे देशमें निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध मात्र फलासक्ति है, विहित अनासक्ति है।

गीतामें ज्ञानकी महिमा स्वीकार की गई है— तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है। वह हृदयगम्य है, इसीलिए वह अश्रद्धालुके लिए नहीं है। गीताकारने ही कहा है :—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मुझसे द्वेष करता है, उससे तू यह (ज्ञान) कभी मत कहना।"

(१८।६७)

"परन्तु यह परम गुह्य-ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी परम भक्ति करनेके कारण निःसन्देह मुझे पावेगा।" (१८।६८)

"साथ ही जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धापूर्वक सुनेगा वह भी मुक्त होकर जहां पुण्यवान रहते हैं, उस शुभ लोकको प्राप्त होगा।" (१८।७१)

कौसानी ( हिमालय )<br>
सोमवार<br>
आषाढ़ कृष्णा २, १९८६<br>
ता० २४–६–२९

मोहनदास करमचंद गांधी

१

# अर्जुन-विषाद-योग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्मसंकट—हृदयमन्थन सब जिज्ञासुओंको एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्रने कहा—

हे संजय! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्र-रूपी कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? १

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्षका द्वार हो सकता है। पापसे इसकी उत्पत्ति है और यह पापका ही भाजन होकर रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरवसे मतलब है आसुरी वृत्तियां और पाण्डु-पुत्रोंसे मतलब है दैवी वृत्तियां । प्रत्येक शरीरमें भली और बुरी वृत्तियोंमें युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता ?

संजयने कहा—

उस समय पाण्डवोंकी सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्यके पास जाकर बोले— २

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा सजायी गयी पाण्डवोंकी इस बड़ी सेनाको देखिये । ३

यहां भीम और अर्जुन जैसे लड़नेमें शूरवीर धनुर्धर, युयुधान ( सात्यकि ), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, ५

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र ( अभिमन्यु ) और द्रौपदीके पुत्र ये सभी महारथी हैं। ६

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओरके जो प्रधान नायक हैं, उन्हें आप जान लीजिए। अपनी सेनाके नायकोंके नाम मैं आपकी जानकारीके लिए बतलाता हूं। ७

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्धमें जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा। ८

और इनके सिवा नाना प्रकारके शस्त्रोंसे युद्ध करनेवाले और भी अनेक योद्धा हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं। वे सब युद्धमें कुशल हैं। ९

भीष्मद्वारा रक्षित हमारी सेनाका बल अपूर्ण है, पर भीमद्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है।

१०

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थानसे सभी मार्गोंसे भीष्मपितामहकी अच्छी तरह रक्षा करें। ( इस प्रकार दुर्योधनने कहा )

११

उसे आनन्दित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी पितामहने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शंख बजाया।

१२

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणभेरियां एक साथ ही बज उठीं। यह नाद भयंकर था।

१३

इतनेमें सफ़ेद घोड़ोंके बड़े रथ बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य शंख बजाये। १४

श्रीकृष्णने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय-अर्जुनने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीमने पौण्ड्र नामक शंख बजाया। १५

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। १६

बड़े धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, १७

द्रुपदराज, द्रौपदीके पुत्र, सुभद्रा-पुत्र महाबाहु अभिमन्यु इन सबने, हे राजन्! अपने-अपने शंख बजाये। १८

पृथ्वी और आकाशको गुंजा देनेवाले उस भयंकर नादने कौरवोंका हृदय विदीर्ण कर डाला। १९

हे राजन् ! अब ध्वजामें हनुमानवाले अर्जुनने कौरवोंको सजे देखकर, हथियार चलानेकी तैयारीके समय अपना धनुष चढ़ाकर हृपीकेशसे यह वचन कहे । अर्जुनने कहा, हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करो ; २०-२१

'जिससे युद्धकी कामनासे खड़े हुए लोगोंको मैं देखूं और जानूं कि इस रण-संग्राममें मुझे किसके साथ लड़ना है ; २२

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित करनेकी इच्छावाले जो योद्धा एकत्र हुए हैं, उन्हें मैं देखूं तो सही।' २३

संजय बोले—

हे राजन् ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा, तब उन्होंने दोनों सेनाओंके बीचमें, समस्त राजाओं

और भीष्म-द्रोणके सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—

'हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख।' २४-२५

वहां दोनों सेनाओंमें विद्यमान बड़े-बूढ़ें, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियोंको अर्जुनने देखा। इन सब बांधवोंको यों खड़ा देखकर खेद उत्पन्न होनेके कारण दीन बने हुए कुन्तीपुत्रने इस प्रकार कहा। २६-२७-२८

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण ! युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित इन स्वजनोंको देखकर मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीरमें कम्प हो रहा है और रोम खड़े हो रहे हैं। २८-२९

हाथसे गांडीव छूटा पड़ता है, चमड़ी बहुत जल रही है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्करसा खा रहा है। ३०

इसके सिवा हे केशव ! मैं तो विपरीत चिह्न देख रहा हूं। युद्धमें स्वजनोंको मारनेमें मैं कोई श्रेय नहीं देखता। ३१

उन्हें मारकर मैं विजय नहीं चाहता। न मुझे राज्य चाहिए, न सुख; हे गोविन्द ! मुझे राज्य, भोग या जीवनका क्या काम है ? ३२

जिनके लिए हमने राज्य, भोग और सुखकी चाहना की, वही आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्यान्य स्वजन जीवन और धनकी आशा छोड़कर युद्धके लिये खड़े हैं। ३३-३४

यह लोग मुझे मार डालें अथवा मुझे तीनों लोकका राज्य मिल जाय, तो भी, हे मधुसूदन! मैं इन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर ज़मीनके एक टुकड़ेके लिए इन्हें क्यों मारूं? ३५

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर मुझे क्या आनन्द होगा? इन आततायियोंको भी मारनेमें हमें पाप ही लगेगा। ३६

इससे हे माधव! मेरे अपने ही बांधव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमारा मारना उचित नहीं है। स्वजनको ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं? ३७

लोभसे जिनके चित्त मलिन हो गये हैं, वे कुलनाशसे होनेवाले दोष और मित्रद्रोहके पापको भले ही न देख सकें, परन्तु हे जनार्दन! कुल-

नाशसे होनेवाले दोषको समझनेवाले हम लोग पापसे बचना क्यों न जानें ? ३८-३९

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्मोंका नाश होता है और धर्मका नाश होनेसे अधर्म समूचे कुलको डुबा देता है। ४०

हे कृष्ण ! अधर्मकी वृद्धि होनेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं और उनके दूषित होनेसे वर्णका संकर हो जाता है। ४१

ऐसे संकरसे कुलघातकका और उसके कुलका नरकवास होता है और पिण्डोदककी क्रियासे वञ्चित रहनेके कारण उसके पितरोंकी अवगति होती है। ४२

कुलघातक लोगोंके इस वर्णसंकरको उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्मोंका नाश हो जाता है। ४३

हे जनार्दन ! जिसके कुलधर्मका नाश हुआ हो ऐसे मनुष्यका अवश्य नरकमें वास होता है। यह हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो, कैसी दुःखकी बात है कि हम लोग महापाप करनेको तैयार हो गये हैं अर्थात् राज्य-सुखके लोभसे स्वजनको मारनेको तैयार हो गये हैं। ४५

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्रके शस्त्रधारी पुत्र रणमें मार डालें तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा। ४६

संजयने कहा—

इतना कहकर रणमें शोकसे व्यथित-चित्त अर्जुन धनुषबाण डालकर, रथके पिछले भागमें बैठ गये। ४७

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्ण-अर्जुनसंवादका अर्जुन-विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

# २

## सांख्ययोग

मोहवश मनुष्य अधर्मको धर्म मान लेता है। मोहके कारण अपने और परायेका भेद अर्जुनने किया। यह भेद मिथ्या है यह बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्माकी भिन्नता बतलाते हैं, देहकी अनित्यता और पृथकता तथा आत्माकी नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थका अधिकारी है, परिणामका नहीं। इसलिए उसे अपने कर्तव्यका निश्चय करके निश्चिन्तभावसे उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणतासे वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

संजयने कहा—

यों करुणासे दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुःखी अर्जुनसे मधुसूदनने यह वचन कहे। १

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन! श्रेष्ठ पुरुषोंके अयोग्य, स्वर्गसे विमुख रखनेवाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे इस विषम घड़ीमें कहांसे आ गया? २

हे पार्थ! तू नामर्द मत बन! यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदयकी इस पामर निर्बलताको त्यागकर हे परन्तप! तू उठ। ३

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन! भीष्म और द्रोणको रणभूमिमें

मैं बाणों द्वारा कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं। ४

महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षान्न खाना भी अच्छा है, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर तो मुझे रक्तसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

मैं नहीं जानता कि दोनोंमें क्या अच्छा है हम जीतें यह या वे हमें जीतें यह। जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता, वे धृतराष्ट्रके पुत्र ये सामने खड़े हैं। ६

कायरतासे मेरी वृत्ति मारी गयी है। मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया हूं। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चय-पूर्वक कहनेकी प्रार्थना

करता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरणमें आया हूं। मुझे मार्ग बतलाइये। ७

इस लोकमें धनधान्य-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य या इन्द्रासन मिलनेपर भी उसमेंसे इन्द्रियोंको चूस लेनेवाले मेरे शोकको दूर करनेका कुछ सामान नहीं दिखाई देता। ८

संजयने कहा—

हे राजन्! गुडाकेश अर्जुनने हृषीकेश गोविन्दसे उपरोक्त प्रकारसे कहा, 'मैं नहीं लड़ूंगा' यह कहकर वे चुप हो गये। ९

हे भारत! इन दोनों सेनाओंके बीचमें उदास हो बैठे हुए अर्जुनसे मुस्कुराते हुए हृषीकेशने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवानने कहा—

तू शोक न करने योग्यका शोक करता है, और पण्डिताईके बोल बोलता है, परन्तु पण्डित मरे जीतोंका शोक नहीं करते। ११

क्योंकि वास्तवमें देखनेपर मैं, तू या यह राजा किसी कालमें न थे, अथवा भविष्यमें न होंगे, ऐसा कुछ नहीं है। १२

देहधारीको जैसे इस शरीरमें कौमार, यौवन और जराकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी भी प्राप्ति होती है। इस विषयमें बुद्धिमान पुरुषको मोह नहीं होता। १३

हे कौन्तेय! इन्द्रियोंके स्पर्श ठंड, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य

होते हैं। आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सहन कर। १४

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुषको ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य बनता है। १५

असत्‌का अस्तित्व नहीं है और सत्‌का नाश नहीं है। इन दोनोंका निर्णय ज्ञानियोंने जाना है। १६

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जानना। इस अव्ययका नाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। १७

नित्य रहनेवाले अमाप अविनाशी देहीकी यह देहें नाशवान कही गयी हैं। इसलिए हे भारत! तू युद्ध कर। १८

जो इसे मारनेवाला मानते हैं और जो इसे मारा हुआ मानते हैं, वे दोनों कुछ नहीं जानते। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्यमें नहीं होगा यह भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, अनित्य है, शाश्वत है, पुरातन है; शरीरका नाश होनेसे उसका नाश नहीं होता। २०

हे पार्थ! जो पुरुष आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है, वह किसीको कैसे मरवाता है या किसको मारता है? २१

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये धारण करता है, वैसे देहधारी जीर्ण हुई देहको त्यागकर दूसरी नयी देह पाता है। २२

इस ( आत्मा ) को शस्त्र काटते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी गलाता नहीं, वायु सुखाता नहीं। २३

यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है। २४

साथ ही, यह इन्द्रिय और मनके लिए अगम्य है, विकार-रहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने, तो भी, हे महाबाहो! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जन्मनेवालोंको मृत्यु और मरनेवालोंके लिए

जन्म अनिवार्य है। इसलिए जो अनिवार्य है, उसका शोक करना उचित नहीं है। २७

हे भारत! भूतमात्रकी जन्मके पहलेकी और मृत्युके बादकी अवस्था देखी नहीं जा सकती; वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिन्ताका क्या कारण है? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर जंगम सृष्टि।

कोई इसे आश्चर्य-समान देखता है, दूसरे उसे आश्चर्य-समान वर्णन करते हैं; और दूसरे उसे आश्चर्य समान वर्णन किया हुआ सुनते हैं, परन्तु सुननेपर भी कोई उसे जानते नहीं हैं। २९

हे भारत! सबके देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है; इसलिए तुझे भूतमात्रके विषयमें शोक करना उचित नहीं है। ३०

टिप्पणी—यहाँ तक श्रीकृष्णने बुद्धि-प्रयोगसे आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व समझाकर बतलाया, कि यदि किसी स्थितिमें देहका नाश करना उचित समझा जाय, तो स्वजन-परिजनका भेद करके कौरव सगे हैं इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय, यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुनको क्षत्रियधर्म क्या है, यह बतलाते हैं।

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

हे पार्थ! यों अपने आप प्राप्त हुआ और मानों स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। ३२

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पाप बटोरेगा। ३३

सब लोग तेरी निन्दा निरन्तर करते रहेंगे। और सम्मानित पुरुषके लिए अपकीर्त्ति मरणसे भी बुरी है। ३४

जिन महारथियोंसे तूने मान पाया है, वे ही तुझे डरकर रणसे भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

और तेरे शत्रु तेरे बलकी निन्दा करते हुए न कहने योग्य अनेक बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःखदायी और क्या हो सकता है? ३६

जो तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। जो तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। इसलिए हे कौन्तेय! लड़नेका निश्चय करके तू खड़ा हो! ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवानने आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व बतलाया। फिर सहज-

प्राप्त युद्ध करनेमें क्षत्रियको धर्मकी बाधा नहीं होती यह भी बतलाया। इस प्रकार ३१ वें श्लोकसे भगवानने परमार्थके साथ उपयोगका मेल मिलाया है। इतना कहनेके बाद भगवान गीताके प्रधान उपदेशका प्रवेश एक श्लोकमें कराते हैं।

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयको समान समझकर युद्धके लिए तैयार हो। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

मैंने तुझे सांख्य सिद्धान्त ( तर्कवाद ) के अनुसार तेरा यह कर्तव्य बतलाया।

अब योगवादके अनुसार समझाता हूं सो सुन। इसका आश्रय ग्रहण करनेसे तू कर्म-बन्धनको तोड़ सकेगा। ३९

इसमें आरम्भका नाश नहीं होता। उल्टा

नतीजा नहीं निकलता। इस धर्मका यत्किञ्चित् पालन भी महाभयसे बचा लेता है। ४०

हे कुरुनन्दन! योगवादीकी निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परन्तु अनिश्चयवालोंकी बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनन्त होती हैं। ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एकसे मिटकर अनेक (बुद्धियां) होती हैं, तब वह बुद्धि न रहकर वासनाका रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियोंसे तात्पर्य है वासना।

अज्ञानी वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है', यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्गको श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरण रूपी कर्मके फल देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य-प्राप्तिके लिए करनेवाले

कर्मोंके वर्णनसे भरी हुई बातें बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त रहनेवाले इन लोगोंकी वह बुद्धि मारी जाती है। इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है, और न वह समाधिमें ही स्थिर हो सकती है। ४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवादके विरुद्ध कर्मकाण्ड अथवा वेदवादका वर्णन उपरोक्त तीन श्लोकोंमें किया गया। कर्मकाण्ड या वेदवादसे तात्पर्य है फल उत्पन्न करनेके लिए उद्योग करनेवाली अगणित क्रियायें। ये क्रियायें वेदके रहस्यसे, वेदान्तसे अलग और अल्प फलवाली होनेके कारण निरर्थक हैं।

हे अर्जुन! तीन गुण जो वेदके विषय हैं उनसे तू अलिप्त रह। सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तुमें स्थित रह। किसी

वस्तुको पाने और संभालनेकी झंझटमेंसे मुक्त रह।
आत्मपरायण हो ! ४५

जैसे जो काम कुएंसे निकलते हैं वे सब इसी प्रकार सरोवरसे भी निकल सकते हैं, वैसे ही जो सब वेदोंमें है वह ज्ञानवान ब्रह्मपरायणको आत्मानुभवमेंसे मिल रहता है। ४६

कर्ममें ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलोंमें कदापि नहीं। कर्मका फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करनेका भी तुझे आग्रह न हो। ४७

हे धनञ्जय ! आसक्ति त्यागकर, योगस्थ रहकर अर्थात् सफलता निष्फलतामें समानभाव रखकर तू कर्म कर। समताका नाम ही योग है। ४८

हे धनञ्जय ! समत्व-बुद्धिकी तुलनामें केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्व-बुद्धिका आश्रय ग्रहण कर। फलको उद्देश बनानेवाले मनुष्य दयाके पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुषको यहां पाप पुण्यका स्पर्श नहीं होता। अतएव तू समत्वके लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है। ५०

क्योंकि समत्व बुद्धिवाले लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्याग करके जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक गति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुएके विषयमें और सुननेको

जो बाकी होगा उसके विषयमें उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंके सुननेसे व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें स्थिर होगी तभी तू समत्वको प्राप्त होगा। ५३

अर्जुनने कहा—

हे केशव! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थके क्या चिह्न होते हैं? स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता, बैठता और चलता है? ५४

श्रीभगवानने कहा—

हे पार्थ! जब मनुष्य मनमें उठती हुई सभी कामनाओंका त्याग करता है और आत्मा-द्वारा ही आत्मामें सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मासे ही आत्मामें सन्तुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनन्द अन्दरसे खोजना। सुख-दुःख देनेवाली बाहरी चीज़ोंपर आनन्दका आधार न रखना। आनन्द सुखसे भिन्न वस्तु है यह ध्यानमें रखना चाहिये। मुझे धन मिलनेपर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, खानेका दुःख हो, फिर भी मैं चोरी या किन्हीं दूसरे प्रलोभनोंमें न पड़ूं, उसमें जो बात मौजूद है वह मुझे आनन्द देती है, और वह आत्म-सन्तोष है।

दुःखसे जो दुःखी न हो, सुखकी इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

सर्वत्र राग-रहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभकी प्राप्तिमें न हर्षित होता है न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

कछुआ जैसे सब ओरसे अंग समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है। ५८

देहधारी निराहारी रहता है, तब उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं, परन्तु रस नहीं जाता ; वह रस तो ईश्वरका साक्षात्कार होनेसे शान्त होता है। ५९

टिप्पणी——यह श्लोक उपवास आदिका निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयोंको शान्त करनेके लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उनमें जो रस रहता है, वह तो ईश्वरकी झांकी होनेपर ही शान्त होता है। जिसे ईश्वर-साक्षात्कारका रस लग जाता है, वह दूसरे रसोंको भूल ही जाता है।

हे कौन्तेय ! चतुर पुरुषके उद्योग करते रहने पर भी इन्द्रियां ऐसी चलायमान हैं कि उसके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं। ६०

इन सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर योगीको मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए। क्योंकि अपनी इन्द्रियां जिसके वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है। ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्तिके बिना—ईश्वरकी सहायताके बिना—मनुष्यका प्रयत्न मिथ्या है।

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना होती है और कामनासे क्रोध होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावालेके लिए क्रोध अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधसे मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़तासे होश ठिकाने नहीं रहता, होश ठिकाने न रहनेसे ज्ञानका नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक-तुल्य है। ६३

परन्तु जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इन्द्रियां रागद्वेष-रहित होकर उसके वशमें रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियोंका व्यापार चलाते हुए भी चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं। जिसे प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है। ६५

जिसे समत्व नहीं है, उसे विवेक नहीं है। उसे भक्ति नहीं है। और जिसे भक्ति नहीं है, उसे शान्ति नहीं मिलती है। और जहां शान्ति नहीं है, वहां सुख कहांसे हो सकता है? ६६

विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जिसका मन दौड़ता है, उसका मन वायु जैसे नौकाको जलमें खींच ले जाता है, वैसे ही उसकी बुद्धिको जहां चाहे वहां खींच ले जाता है। ६७

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियां चारों ओरके विषयोंसे निकलकर अपने वशमें आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ६८

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है। ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रातके बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदिमें अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे सात-आठ बजेतक सोते हैं। संयमी रातको सात आठ बजे सोकर मध्य-रात्रिके समय

उठकर ईश्वरका ध्यान करते हैं। इसके सिवा जहां भोगी संसारका प्रपञ्च बढ़ाता है और ईश्वरको भूलता है वहां संयमी सांसारिक प्रपञ्चोंसे बेखबर रहता है और ईश्वरका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनोंका पंथ न्यारा है, यह इस श्लोकमें भगवानने बतलाया है।

नदियोंके प्रवेशसे भरता रहनेपर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमें संसारके भोग शान्त हो जाते हैं, वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला। ७०

सब कामनाओंका त्यागकर जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार-रहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति पाता है। ७१

हे पार्थ! ईश्वरको पहचाननेवाली स्थिति इस

प्रकारकी होती है। इसे पानेपर फिर वह मोहवश नहीं होता और यदि मृत्युकालमें भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। ७२

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रका श्रीकृष्णार्जुन-संवादका सांख्य-योग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

३

# कर्मयोग

*यह अध्याय गीताका स्वरूप जाननेकी कुञ्जी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना चाहिये, कौन कर्म करना चाहिये और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिये, यह स्पष्ट किया गया है। और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मोंमें परिणत होना ही चाहिये।*

अर्जुनने कहा—

हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों प्रेरित करते हैं? १

टिप्पणी—बुद्धिसे तात्पर्य है समत्व-बुद्धि।

अपने मिश्र वचनोंसे मेरी बुद्धिको आप मानों शंकाशील बना रहे हैं। इसलिये आप मुझसे एक ही बात निश्चय-पूर्वक कहिये, कि जिससे मेरा कल्याण हो! २

टिप्पणी—अर्जुन उकताता है, क्योंकि एक ओरसे भगवान उसे शिथिल होनेके लिए उलाहना देते हैं और दूसरी ओर दूसरे अध्यायके ४९-५० श्लोकोंमें कर्म-त्यागका आभास मिलता है। गम्भीरता-पूर्वक विचार करनेपर मालूम होता है कि ऐसा नहीं है यह भगवान आगे बतलायेंगे।

श्रीभगवानने कहा—

हे पापरहित! इस लोकमें मैंने पहले दो अवस्थायें बतलायी हैं एक तो ज्ञानयोग द्वारा सांख्योंकी, दूसरी कर्म योगद्वारा योगियोंकी। ३

कर्मका आरम्भ न करनेसे मनुष्य नैष्कर्म्यका अनुभव नहीं करता और कर्मके केवल बाह्यत्यागसे मोक्ष नहीं पाता। ४

टिप्पणी—नैष्कर्म्य अर्थात् मनसे, वाणीसे और शरीरसे कर्मका अभाव। ऐसी निष्कर्मताका अनुभव किसीको कर्म न करनेसे नहीं हो सकता। तब इसका अनुभव कैसे होता है यह अब देखना है।

वास्तवमें कोई एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्यसे कर्म कराते हैं। ५

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इन्द्रियोंको रोकता है, परन्तु उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन मनसे करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है। ६

टिप्पणी—जैसे कि, जो वाणीको रोकता है पर मनमें किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है, बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जब तक मन न रोका जा सके तबतक शरीरको रोकना निरर्थक है। शरीरको रोके बिना मनपर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीरके अंकुशके साथ-साथ मन पर अंकुश रखनेका प्रयत्न होना ही चाहिये। जो लोग भय या ऐसे ही बाह्य कारणोंसे शरीरको रोकते हैं, परन्तु मनपर नियन्त्रण नहीं रखते, इतना ही नहीं बल्कि मनसे तो विषय भोगते हैं और मौका मिले तो शरीरसे भी भोगें ऐसे मिथ्याचारियोंकी यहां निन्दा है। इसके बादके श्लोकमें इससे उलटा भाव दिखाते हैं।

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य इन्द्रियोंको मनसे नियममें रखकर संगरहित होकर, कर्म

करनेवाली इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है। ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और अन्तरका मेल मिलाया गया है। मनको अंकुशमें रखते हुए भी मनुष्य शरीरद्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियोंद्वारा कुछ न कुछ तो करेगा ही। परन्तु जिसका मन अंकुशित है, उसके कान दूषित बातें न सुन कर ईश्वर भजन सुनेंगे, सत्पुरुषोंका गुण-गान सुनेंगे। जिसका मन अपने वशमें है, वह हमलोग जिसे विषय कहते हैं, उसमें दिलचस्पी नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्माको शोभा देनेवाले कर्म ही करेगा। ऐसे कर्म करनेको कर्ममार्ग कहते हैं। जिसके द्वारा आत्माका शरीरके बन्धनसे छूटनेका योग सधे वह कर्मयोग है। इसमें विषयासक्तिको स्थान हो ही नहीं सकता।

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करनेको अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे

शरीरका व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता। ८

टिप्पणी—नियत शब्द मूल श्लोकमें है। उसका सम्बन्ध पिछले श्लोकसे है। उसमें मनद्वारा इन्द्रियोंको नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवालेकी स्तुति है, यहां नियत कर्मका अर्थात् इन्द्रियोंको नियममें रखकर, करनेवाले कर्मका अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थ किये हुए कर्मके अतिरिक्त कर्मोंसे इस लोकमें बन्धन पैदा होता है। इसलिये हे कौन्तेय! तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ९

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

यज्ञ-सहित प्रजाको उपजाकर प्रजापति ब्रह्माने कहा :—इस यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

'तुम यज्ञद्वारा देवताओंका और देवता तुम्हारा पोषण करें। और एक दूसरेका पोषण करते हुए तुम परमकल्याणको प्राप्त करो। ११

'यज्ञद्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।' १२

टिप्पणी—यहां देवका यह अर्थ है कि भूतमात्र ईश्वरकी सृष्टि है। भूतमात्रकी सेवा देवसेवा है और वह यज्ञ है।

जो यज्ञसे उबरा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। जो अपने लिये ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नसे भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे होता है। १४

तू जान ले कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्मसे उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञमें अधिष्ठित है। १५

इस प्रकार प्रवर्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इन्द्रिय-सुखोंमें फँसा रहता है और हे पार्थ! वह व्यर्थ जीता है। १६

पर जो मनुष्य आत्मामें रमण करता है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें सन्तोष मानता है, उसे कुछ करना नहीं रह जाता। १७

करने न करनेमें उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्रमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

इसलिए तू तो संगरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

जनकादि कर्मसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हो गये।

लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

जो जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकमें कुछ भी करनेको नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु पाई न हो, यह नहीं है तथापि मैं कर्ममें प्रवृत्त रहता हूं। २२

टिप्पणी—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादिकी अविराम और अचूक गति ईश्वरके कर्म सूचित करती हैं। यह कर्म मानसिक नहीं बल्कि शारीरिक कहे जा सकते हैं। ईश्वर निराकार होनेपर भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, यहां ऐसी शंकाकी गुंजायश नहीं है। क्योंकि वह अशरीर होनेपर भी शरीरीकी तरह आचरण करता हुआ दिखायी देता है। इसीलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी और अलिप्त है। मनुष्यको समझना तो यह है कि जैसे ईश्वरकी प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है, वैसे ही मनुष्यको भी बुद्धि-पूर्वक किन्तु यन्त्रकी भांति ही नियमित काम करना चाहिये। मनुष्यकी विशेषता यन्त्रकी गतिका अनादर कर स्वेच्छाचारी होनेमें नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गतिका अनुकरण करनेमें है। अलिप्त रहकर, यंत्रवत् कार्य करनेसे उसे रगड़ नहीं लगती। वह मृत्युपर्यन्त ताज़ा रहता है। देह देहके नियमानुसार

समयपर नष्ट होती है, परन्तु उसके अन्दरका आत्मा
जैसा था वैसा ही रहता है।

यदि मैं कभी भी अंगड़ाई लेनेके लिये भी रुके बिना कर्ममें प्रवृत्त न रहूं, तो हे पार्थ! लोग सभी तरहसे मेरे आचरणका अनुकरण करने लगेंगे। २३

यदि मैं कर्म न करूं, तो ये लोक भ्रष्ट हो जायँ; मैं अव्यवस्थाका कर्ता बनूं और इन लोकोंका नाश करूं। २४

हे भारत! जिस प्रकार अज्ञानी लोग आसक्त होकर काम करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको आसक्ति-रहित होकर लोककल्याणकी इच्छासे काम करना चाहिये। २५

कर्ममें आसक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिको ज्ञानी डाँवाडोल न करे, परन्तु समत्वपूर्वक अच्छी

तरह कर्मकरके उन्हें सब कर्मोंमें प्रेरित करें। २६

सब कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये हुए होते हैं। अहंकारसे मूढ़ बना हुआ मनुष्य मैं कर्ता हूं ऐसा मानता है। २७

हे महाबाहो! गुण और कर्मके विभागका रहस्य जाननेवाला पुरुष 'गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं' यह मानकर उसमें आसक्त नहीं होता। २८

टिप्पणी—जिसप्रकार श्वासोच्छ्वास आदि क्रियायें अपने आप होती रहती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगोंको कोई बीमारी होती है, तभी मनुष्यको उनकी चिन्ता करनी पड़ती है या उसे उन अंगोंके अस्तित्वका भान होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म अपने आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती। जिसका स्वभाव उदार है,

वह स्वयं अपनी उदारताको जानता भी नहीं; परन्तु उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी अनासक्ति अभ्यास और ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होती है।

प्रकृतिके गुणोंसे मोहे हुए मनुष्य गुणोंके कर्मोंमें ही आसक्त रहते हैं। ज्ञानियोंको चाहिए कि वे इन अज्ञानी, मन्दबुद्धि लोगोंको अस्थिर न करें। २९

अध्यात्मवृत्ति रखकर सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्वको छोड़, राग-रहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो शरीरस्थ आत्माको पहचानता है और उसे परमात्माका अंश जानता है, वह सब परमात्माको ही अर्पण करेगा। ऐसे, जैसे कि सेवक स्वामीके आश्रयमें निर्वाह करता है और सब कुछ उसीको अर्पण करता है।

श्रद्धा रखकर, द्वेषको त्यागकर जो मनुष्य मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। ३१

परन्तु जो मेरे इस अभिप्रायका दोष निकाल कर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझो। ३२

ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार आचरण करते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभावका अनुसरण करते हैं, वहाँ बलात्कार क्या कर सकता है? ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्यायके ६१ वें या ६८ वें श्लोकका विरोधी नहीं है। इन्द्रियोंका निग्रह करते करते मनुष्यको मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रहकी निन्दा नहीं की गयी है, स्वभावका साम्राज्य

दिखलाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई निखट्टू बन बैठे तो वह इस श्लोकका अर्थ नहीं समझता। स्वभावका हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। और आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। इसलिए आत्मा जब नीचे उतरे तब उसका सामना करना कर्तव्य है। इसीसे नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

अपने-अपने विषयोंमें इन्द्रियोंको रागद्वेष रहता ही है। मनुष्यको उनके वश न होना चाहिए। क्योंकि वे मनुष्यके मार्ग-शत्रु हैं। ३४

टिप्पणी—कानका विषय है सुनना। जो भावे वही सुननेकी इच्छा' यह राग है। जो न भावे वह सुननेकी अनिच्छा यह द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' यह कहकर रागद्वेषके वश न हो उनका मुकाबला करना चाहिये। आत्माका स्वभाव सुख-दुःखसे अछूते रहना है। उस स्वभावतक मनुष्यको पहुंचना है।

पराया धर्म सुलभ होनेपर भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्ममें मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाजमें एकका धर्म झाड़ू देनेका होता है और दूसरेका धर्म हिसाब रखनेका होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही उत्तम गिना जाय, परन्तु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जाय और समाजको हानि पहुंचे। ईश्वरके यहां दोनोंकी सेवाका मूल्य उनकी निष्ठाके अनुसार कूता जायगा। व्यवसायका मूल्य वहां तो एक ही हो सकता है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना कर्तव्य पालन करें तो समानरूपसे मोक्षके अधिकारी बनते हैं।

अर्जुनने कहा—

हे वार्ष्णेय! मानों बलात्कारसे लगाया जा

रहा हो इस तरह, इच्छा न होनेपर भी मनुष्य किसकी प्रेरणासे पाप करता है ? ३६

श्रीभगवानने कहा—

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महापापी है, इसे इस लोकमें शत्रुरूप समझ। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अन्तरमें रहनेवाला चाहे काम कहिये चाहे क्रोध—वही है।

जिस तरह धूएँसे आग, मैलसे दर्पण किंवा झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, उसी तरह कामादिरूप शत्रुसे यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

हे कौन्तेय! तृप्त न किया जा सकनेवाला ऐसा यह कामरूप अग्नि नित्यका शत्रु है। उससे ज्ञानीका ज्ञान ढका रहता है। ३९

इन्द्रियां, मन और बुद्धि—यह शत्रुका निवासस्थान है। इसके द्वारा ज्ञानको ढककर यह शत्रु देहधारीको मूर्च्छित करता है। ४०

टिप्पणी—इन्द्रियोंमें काम व्याप्त होनेके कारण मन मलिन होता है, उससे विवेक-शक्ति मन्द होती है, उससे ज्ञानका नाश होता है। देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४।

हे भरतर्षभ! इसलिए तू पहले तो इन्द्रियोंको नियममें रखकर ज्ञान और अनुभवका नाश करनेवाले इस पापीका अवश्य त्याग कर। ४१

इन्द्रियां सूक्ष्म हैं उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धिसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इन्द्रियां वशमें रहें तो सूक्ष्म कामको जीतना सहज हो जाय।

इस तरह बुद्धिसे परे आत्माको पहचानकर और आत्माद्वारा मनको वशकरके हे महाबाहो! कामरूप दुर्जय शत्रुका संहार कर। ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्माको जान ले तो मन उसके वशमें रहेगा, इन्द्रियोंके वशमें नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है?

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुन-संवादका कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

# ४

## ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

*इस अध्यायमें तीसरेका विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकारके कई यज्ञोंका वर्णन है।*

श्रीभगवानने कहा—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। १

इस प्रकार परम्परासे मिला हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ वह योग दीर्घकालके बलसे नष्ट हो गया। २

वही पुरातन योग मैंने आज तुझे बतलाया,

क्योंकि तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्मकी बात है। ३

अर्जुनने कहा—

आपका जन्म तो हालका है और विवस्वानका पहले हो चुका है। ऐसी अवस्थामें मैं कैसे जानूं कि आपने वह ( योग ) पहले कहा था ? ४

श्री भगवानने कहा—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे जन्म तो अनेक हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूं, तू नहीं जानता। ५

मैं अजन्म, अविनाशी और फिर भूतमात्रका ईश्वर हूं, तथापि अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म धारण करता हूं। ६

हे भारत ! जब-जब धर्म मन्द पड़ता है,

अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूं। ७

साधुओंकी रक्षाके लिए और दुष्टोंके विनाशके लिए तथा धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिए युग-युगमें मैं जन्म लेता हूं। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धावानोंको आश्वासन है और सत्यकी—धर्मकी-अविचलताकी प्रतिज्ञा है। इस संसारमें ज्वारभाटा हुआ ही करता है। परन्तु अन्तमें धर्मकी ही जय होती है। सन्तोंका नाश नहीं होता, क्योंकि सत्यका नाश नहीं होता। दुष्टोंका नाश ही है, क्योंकि असत्यका अस्तित्व नहीं है। यह जानकर मनुष्यको अपने कर्तापनके अभिमानसे हिंसा नहीं करनी चाहिये, दुराचार न करना चाहिये। ईश्वरकी गहन माया अपना काम करती ही जाती है। यही अवतार या ईश्वरका जन्म है। वस्तुतः ईश्वरके लिए जन्मना होता ही नहीं।

इस तरह जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मका रहस्य जानता है वह हे अर्जुन ! शरीरका त्याग कर पुनर्जन्म नहीं पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्यका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्यकी ही जय कराता है, तब वह सत्यको नहीं छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहनेके कारण जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त होकर ईश्वरका ही ध्यान धरते हुए उसीमें लीन हो जाता है।

राग, भय और क्रोधरहित हुए, मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुतेरोंने मेरे स्वरूपको प्राप्त किया है। १०

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं वैसे ही मैं उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हे पार्थ !

मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं—मेरे शासनमें रहते हैं। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी क़ानूनका उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है, जैसी करनी वैसी पार उतरनी। ईश्वरी क़ानूनमें—कर्मके नियममें अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यताके अनुसार न्याय मिलता है।

कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले इस लोकमें देवताओंको पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरन्त मनुष्यलोकमें ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवता अर्थात् स्वर्गमें रहनेवाले इन्द्र-वरुणादि व्यक्ति नहीं। देवता अर्थात् ईश्वरकी अंशरूपी शक्ति। इस अर्थमें मनुष्य भी देवता है। भाफ, बिजली आदि महान शक्तियां देवता हैं। इनकी आराधनाका फल तुरन्त और इसी लोकमें मिलता हुआ हम देखते

हैं। यह फल क्षणिक होता है। वह आत्माको सन्तोष नहीं देता तो फिर मोक्ष तो दे ही कहांसे सकता है?

गुण और कर्मके विभागानुसार मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं। इनके कर्ता होनेपर भी मुझे तू अविनाशी अकर्ता समझना। १३

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते। मुझे इसके फलकी लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं वे कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्यके सामने कर्म करते हुए अकर्मी रहनेका सर्वोत्तम दृष्टान्त है। और सबका कर्ता ईश्वर ही है, हम निमित्त मात्र ही हैं, तो फिर कर्तापनका अभिमान कैसे हो सकता है?

यों जानकर पहले मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये

हैं। इससे तू भी पूर्वज सदासे करते आये हैं वैसे कर। १५

कर्म क्या है, अकर्म क्या है इस विषयमें समझदार लोग भी मोहमें पड़े हैं। उस कर्मके विषयमें मैं तुझे अच्छी तरह बतलाऊंगा। उसे जानकर तू अशुभसे बचेगा। १६

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्मका भेद जानना चाहिये। कर्मकी गति गूढ़ है। १७

कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्ममें जो कर्म देखता है, वह लोगोंमें बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह सम्पूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापनका अभिमान नहीं रखता उसका कर्म अकर्म है और जो बाहरसे कर्मका त्याग करते हुए भी मनके महल बनाता

ही रहता है उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है, वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंगको हिलाता है, तब वह हिलता है। यह बीमार अंग हिलानेकी क्रियाका कर्ता बना। आत्माका गुण अकर्ताका है। जो मूर्छित होकर अपनेको कर्ता मानता है, उस आत्माको मानों लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्मकी गतिको जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। "मैं करता हूं" यह माननेवाला कर्म-विकर्मका भेद भूल जाता है और साधनके भले-बुरेका विचार नहीं करता। आत्माकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिये जब मनुष्य नीतिसे हटता है तब उसमें अहंकार अवश्य है यह कहा जा सकता है। अभिमान-रहित पुरुषके कर्म सहज ही सात्विक होते हैं।

जिसके समस्त आरम्भ कामना और संकल्प-

रहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्निद्वारा भस्म हो गये हैं। ऐसेको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं। १९

जिसने कर्मफलका त्याग किया है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रयकी लालसा नहीं है, वह कर्ममें अच्छी तरह प्रवृत्त होते हुए भी, कुछ नहीं करता, यह कहना चाहिए। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्मका बन्धन भोगना नहीं पड़ता।

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वशमें है, जिसने संग्रहमात्रको छोड़ दिया है और जिसका शरीर ही मात्र कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कर्ममात्र चाहे जैसा सात्त्विक होनेपर भी बन्धन करनेवाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धिसे अभिमान विना होता है,

तब बन्धनरहित बनता है। जिसका "मैं" शून्यताको प्राप्त हो गया है, उसका शरीर ही भर कर्म करता है। सोते हुए मनुष्यका शरीर ही भर कर्म करता है यह कहा जा सकता है। जो कैदी बरबस अनिच्छासे हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छासे ईश्वरका कैदी बना है, उसका भी शरीर ही भर काम करता है। स्वयं शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

जो सहजमें प्राप्त हुएसे सन्तुष्ट रहता है, जो सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता निष्फलतामें तटस्थ है, वह कार्य करते हुए भी बन्धनमें नहीं पड़ता। २२

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके कर्ममात्र लय हो जाते हैं। २३

(यज्ञमें) अर्पण यह ब्रह्म है, हवनकी वस्तु—हवि यह ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमें हवन करनेवाला यह भी ब्रह्म है। इस प्रकार कर्मके साथ जिसने ब्रह्मका मेल मिला लिया है, वह ब्रह्मको ही पाता है। २४

दूसरे कितने ही योगी देवताओंका पूजनरूप यज्ञ करते हैं और दूसरे ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञको ही होमते हैं। २५

और दूसरे श्रवणादि इन्द्रियोंका संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ दूसरे शब्दादि विषयोंको इन्द्रियाग्निमें होमते हैं। २६

टिप्पणी—सुननेकी क्रिया इत्यादिका संयम करना यह एक बात है; और इन्द्रियोंको उपयोगमें लाते हुए उनके विषयोंको प्रभुप्रीत्यर्थ काममें लाना दूसरी बात है—जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः दोनों एक हैं।

और दूसरे समस्त इन्द्रियकर्मोंको और प्राणकर्मोंको ज्ञानदीपकसे प्रज्वलित की हुई आत्मसंयम रूपी योगाग्निमें होमते हैं। २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मामें तन्मय हो जाते हैं।

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टाङ्ग-योग साधनेवाले होते हैं। कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं। २८

दूसरे प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले अपानको प्राणवायुमें होमते हैं प्राणमें अपानको होमते हैं, अथवा प्राण और अपान दोनोंका अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—यह तीन प्रकारके प्राणायाम हैं:—रेचक पूरक और कुम्भक। संस्कृतमें प्राणवायुका अर्थ गुजरातीकी अपेक्षा उल्टा है। यह प्राणवायु अन्दरसे बाहर निकलनेवाला है। हम बाहरसे जिसे अन्दर खींचते हैं उसे प्राणवायु—आक्सीजनके नामसे पहचानते हैं।

और दूसरे आहारका संयम करके प्राणोंको प्राणमें होमते हैं। जिन्होंने यज्ञोंद्वारा अपने पापोंको क्षय कर दिया है, ऐसे ये सब यज्ञके जाननेवाले हैं। ३०

हे कुरुसत्तम ! यज्ञसे उबरा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्मको पाते हैं।—यज्ञ न करनेवालेके लिये यह लोक नहीं है, तब परलोक कहांसे हो सकता है? ३१

इस प्रकार वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन हुआ है। इन सबको कर्मसे उत्पन्न हुए

जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष प्राप्त करेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्मका व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म विना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ विना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना इसका नाम है यज्ञोंका जानना। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपना शरीर बुद्धि और आत्मा प्रभु-प्रीत्यर्थ—लोक सेवार्थ काममें न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्षके योग्य नहीं बन सकता। जो केवल बुद्धिशक्तिको ही काममें लावे और शरीर तथा आत्माको चुरावे वह पूरा याज्ञिक नहीं है; ये शक्तियां मिले विना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्म-शुद्धिके विना लोकसेवा असम्भव है। सेवकके लिए शरीर, बुद्धि और आत्मा—नीति तीनोंका समान रूपसे विकास करना कर्तव्य है।

हे परन्तप ! द्रव्ययज्ञको अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ही ज्ञानमें पराकाष्ठाको पहुंचते हैं। ३३

टिप्पणी—परोपकारवृत्तिसे दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत वार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है ? अच्छी वृत्तिसे होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं, जब उनके साथ ज्ञानका मिलाप हो। इसलिए कर्ममात्रकी पूर्णाहुति ज्ञानमें ही है।

इसे तू तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोंकी सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेक सहित वारंवार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे। ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करनेकी तीन शर्तें—प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा इस युगमें खूब ध्यानमें रखने

योग्य हैं। प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बार बार पूछना; सेवारहित नम्रता खुशामदमें दाखिल हो सकती है। फिर, ज्ञान खोजके बिना सम्भव नहीं है, इसलिए जब तक समझमें न आवे तब तक शिष्यको गुरुसे नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना, यह जिज्ञासाकी निशानी है। इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जिसपर श्रद्धा नहीं होती, उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती; उसकी सेवा तो हो ही कहांसे सकती है?

यह ज्ञान पानेके बाद हे पाण्डव! फिर तुझे ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञानद्वारा तू भूतमात्रको आत्मामें और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'का यही अर्थ है। जिसे आत्म-दर्शन हो गया है वह अपनी आत्मा और दूसरोंकी आत्मामें भेद नहीं देखता।

समस्त पापियोंसे तू बड़ेसे बड़ा पापी हो तो भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा सब पापोंको तू पार कर जायगा। ३६

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देता है। ३७

ज्ञानके समान इस संसारमें और कुछ पवित्र नहीं है। योगमें—समत्वमें—पूर्णताप्राप्त मनुष्य समयपर अपने आपमें उस ज्ञानको पाता है। ३८

श्रद्धावान, ईश्वरपरायण, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त परम शान्ति पाता है। ३९

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवानके लिये

न तो यह लोक है, न परलोक; उसे कहीं सुख नहीं है। ४०

जिसने समत्व-रूपी योगद्वारा कर्मोंका अर्थात् कर्मफलका त्याग किया है और ज्ञानद्वारा संशयको छेद डाला है, वैसे आत्मदर्शीको हे धनञ्जय! कर्म बन्धनरूप नहीं होते। ४१

इसलिए हे भारत! हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए संशयको आत्मज्ञान-रूपी तलवारसे नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो। ४२

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका ज्ञानकर्म-संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

५

# कर्मसंन्यासयोग

*इस अध्यायमें कर्मयोगके बिना कर्मसंन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं यह बतलाया गया है।*

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण! कर्मोंके त्यागकी और फिर कर्मोंके योगकी आप स्तुति करते हैं। इन दोमेंसे श्रेयस्कर क्या है यह मुझे यथार्थ निश्चयपूर्वक कहिये। १

श्रीभगवानने कहा—

कर्मोंका त्याग और योग दोनों मोक्षदायक हैं। इनमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग बढ़कर है। २

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिये। जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वसे मुक्त है, वह सहज ही बन्धनोंसे छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि कर्मका त्याग यह संन्यासका खास लक्षण नहीं है, वरन् द्वन्द्वातीत होना ही है। एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है, दूसरा कर्म न करते हुए भी मिथ्याचारी हो सकता है। देखो अध्याय ३ श्लोक ६।

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—यह दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पण्डित नहीं कहते। एकमें अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनोंके फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोकसंग्रह-रूपी कर्मयोगका विशेष फल संकल्पमात्रसे प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्तिके कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगीकी शान्ति अनायास भोग करता है।

जो स्थान सांख्यमार्गी पाते हैं, वही योगी भी पाता है। जो सांख्य और योगको एक रूप देखता है, वही सच्चा देखनेवाला है। ५

हे महाबाहो ! कर्मयोगके बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है; परन्तु समत्ववाला मुनि शीघ्रतासे मोक्ष पाता है। ६

जिसने योग साधा है, जिसने हृदयको विशुद्ध किया है और जिसने मन और इन्द्रियोंको जीता है, और जो भूतमात्रको अपने समान ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। ७

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, आंख खोलते बन्द करते, केवल इन्द्रियां ही अपना काम करती हैं ऐसी

भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ करता ही नहीं।' ८-९

टिप्पणी—जब तक अभिमान है, तब तक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं प्राप्त होती। इसलिए विषयासक्त मनुष्य 'विषयोंको मैं नहीं भोग करता, इन्द्रियां अपना काय करती हैं।' यह कहकर छूट नहीं सकता। ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीता समझता है, और न धर्म ही जानता है। इस वस्तुको नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह जैसे पानीमें रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है वैसे ही पापसे अलिप्त रहता है। १०

शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे या केवल इन्द्रियोंसे योगीजन आसक्ति-रहित होकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं। ११

समतावान कर्मफलका त्याग करके परमशान्ति पाता है। अस्थिरचित्त कामनावाला बनकर फलमें फँसकर बन्धनमें रहता है। १२

संयमी पुरुष मनसे सब कर्मोंका त्याग करके नव द्वारयुक्त नगररूपी शरीरमें रहते हुए भी कुछ न करता न कराता हुआ सुखमें रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंख, मल-त्यागके दो स्थान और मुख यह शरीरके नव मुख्य द्वार हैं। यों तो त्वचाके असंख्य छिद्र मात्र दरवाजे ही हैं। इन सब दरवाजोंका चौकीदार यदि इनमें आने-जानेवाले अधिकारियोंको ही आने-जाने दे कर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह यह आना-जाना होते रहनेपर भी, उसका हिस्सेदार नहीं, बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

जगतका प्रभु न कर्तृत्व रचता है, न कर्म रचता है; न कर्म और फलका मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्त्ता नहीं है। कर्मका नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसीमें ईश्वरकी महादया है, उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्यायमें शुद्ध दया है। न्यायकी विरोधी दया दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। इससे उसके लिए तो दया—क्षमा यही न्याय है। वह स्वयं निरन्तर न्यायपात्र होकर क्षमाका याचक है। वह दूसरेका न्याय क्षमासे ही चुका सकता है। क्षमाके गुणका विकास करनेपर ही अन्तमें अकर्ता—योगी—समतावान—कर्ममें कुशल बन सकता है।

ईश्वर किसीके पाप या पुण्यका दायित्व नहीं

लेता। अज्ञानद्वारा ज्ञान ढक जाता है। और इससे लोग मोहमें फँस जाते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञानसे, 'मैं करता हूँ' इस वृत्तिसे मनुष्य कर्मबन्धन बाँधता है। फिर भी वह भले बुरे फलका आरोप ईश्वरपर करता है, यह मोह-जाल है।

परन्तु जिनका अज्ञान, आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्यके समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्वका दर्शन कराता है। १६

ज्ञानद्वारा जिनके पाप धुल गये हैं वे, और ईश्वरका ध्यान धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले और उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं। १७

विद्वान और विनयी ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें

कुत्तेमें और कुत्तेको खानेवाले मनुष्यमें ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चाण्डालके प्रति समभाव रखनेका अर्थ यह है कि ब्राह्मणको सर्प काटनेपर उसके दंशको जैसे ज्ञानी प्रेमभावसे चूसकर उसे विषमुक्त करनेका प्रयत्न करेगा उसी प्रकार चाण्डालके सम्बन्धमें वैसी स्थितिमें व्यवहार करेगा।

जिनका मन समत्वमें स्थिर हो गया है, उन्होंने इस देहसे ही संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलङ्क और समभावी है। इसलिए वे ब्रह्ममें ही स्थिर हुए हैं। १६

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिन्तन करता है, वैसा होता है। इसलिए समत्वका चिन्तन

करके, दोष-रहित होकर, समत्वकी मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्मको पाता है।

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्मको जानता है और जो ब्रह्म-परायण रहता है, वह प्रियको पाकर सुख नहीं मानता और अप्रियको पाकर दुःख नहीं मानता। २०

बाह्य विषयोंमें जिसे आसक्ति नहीं है ऐसा पुरुष अन्तरमें जो आनन्द भोग करता है वह अक्षय आनन्द उपरोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—जो अन्तर्मुख हुआ है वही ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनन्द पाता है। विषयोंसे निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधिमें

रमण करना ये दोनों भिन्न वस्तुयें नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्केकी दो पीठें हैं।

विषयजनित भोग अवश्य ही दुःखके कारण हैं। हे कौन्तेय! वे आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें रत नहीं होता। २२

देहान्तके पहले जो मनुष्य इस देहसे ही काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है, उस मनुष्यने समत्वको पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मृत शरीरको जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख दुःख नहीं होता, उसी तरह जो जीवित रहते भी मृतकके समान—जड़ भरतकी भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसारमें विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुखको जानता है।

जिसे भीतरका आनन्द है, जिसके हृदयमें शान्ति है, जिसे अवश्य अन्तर्ज्ञान हुआ है, वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। २४

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी शंकाएँ शान्त हो गयी हैं, जिन्होंने मनपर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्रके हितमें ही लगे रहते हैं ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। २५

जो अपनेको पहचानते हैं, जिन्होंने काम क्रोधको जीत लिया है और जिन्होंने मनको वश कर लिया है ऐसे यतियोंके लिये सर्वत्र ब्रह्म-निर्वाण ही है। २६

बाह्य विषय-भोगोंका बहिष्कार करके, दृष्टिको भ्रकुटिके बीचमें स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-

जानेवाले प्राण और अपान वायुकी गति एक समान रखकर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके तथा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होकर जो मुनि मोक्षमें परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अन्दरसे बाहर निकलनेवाला है और अपान बाहरसे अन्दर जानेवाला वायु है। इन श्लोकोंमें प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओंका समर्थन है। प्राणायाम आदि तो बाह्य क्रियायें हैं और उनका प्रभाव शरीरको स्वस्थ रखने और परमात्माके रहने योग्य मन्दिर बनाने तक ही परिमित है। भोगीका साधारण व्यायाम आदिसे जो काम निकलता है, वही योगीका प्राणायाम आदिसे निकलता है। भोगीके व्यायाम आदि उसकी इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेमें सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगीके शरीरको नीरोगी और कठिन बनाने पर

भी, इन्द्रियोंको शान्त रखनेमें सहायता करते हैं। आजकाल प्राणायामादिकी विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कमसे कम प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्षकी उत्कट अभिलाषा है, जिसने रागद्वेषादिको जीत कर भयको छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं। अन्तः शौचरहित प्राणायामादि बन्धनका एक साधन बन कर, मनुष्यको मोहकूपमें अधिक नीचे ले जा सकते हैं—ऐसा बहुतोंका अनुभव है। इससे योगीन्द्र पतञ्जलिने यम-नियमको प्रथम स्थान देकर उसके साधकके लिए ही मोक्षमार्गमें प्राणायामादिको सहायक माना है।

यम पांच हैं:—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं:—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

यज्ञ और तपके भोक्ता सम्पूर्ण लोकके महेश्वर और भूत मात्रके हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शान्ति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—इस अध्यायके चौदहवें पन्द्रहवें, तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकोंका यह श्लोक विरोधी है यह कोई न समझे। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्यकी भाषासे अतीत है। इससे उसमें परस्पर-विरोधी गुणों और शक्तियोंका भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकीकी आशा रखता है।

ॐ तत्सत्।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका कर्मसंन्यास-योग नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

६

# ध्यानयोग

*इस अध्यायमें योग साधनेके—समत्व प्राप्त करनेके—कई साधन बतलाये गये हैं।*

श्रीभगवानने कहा—

कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है; जो अग्नि और क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्नि अर्थात् साधनमात्र। जब अग्निद्वारा होम होते थे, तब अग्निकी आवश्यकता थी। इस युगमें मान लीजिए कि चरखा सेवाका साधन है, तो उसका त्याग करनेसे संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसे तू योग जान। जिसने मनके संकल्पोंको त्यागा नहीं वह कभी योगी हो नहीं सकता। २

योग साधनेवालेको कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शान्ति साधन है। ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि हो गयी है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़को लोकसंग्रहके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। लोकसंग्रहके बिना तो वह जी ही नहीं सकता। तात्पर्य, सेवाकर्म करने भी उसके लिए सहज होते हैं। वह दिखावेके लिए कुछ नहीं करता। अध्याय ३—४, अध्याय ५—२ से मिलाइये।

जब मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें या कर्ममें

आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्माका बन्धु है; और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। ५

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है; जिसने आत्माको जीता नहीं वह अपने प्रति ही शत्रुका-सा व्यवहार करता है। ६

जिसने अपना मन जीता है और जो सम्पूर्ण रूपसे शान्त हो गया है उसका आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानमें एक सरीखा रहता है। ७

जो ज्ञान और अनुभवसे तृप्त हो गया है, जो

अविचल है, जो इन्द्रियजित् है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनोंका भला चाहनेवाला, द्वेषी, वन्धु और साधु तथा पापी इन सभोंमें जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है। ९

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रहका त्याग करके, अकेला एकान्तमें रह करके योगी निरन्तर आत्माको परमात्माके साथ जोड़े। १०

पवित्र स्थानमें, एक-पर-एक ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र विछाये हुए, न वहुत नीचा न वहुत ऊंचा स्थिर आसन अपने लिए करके यहां एकाग्रमनसे वैठकर चित्त और इन्द्रियोंको वश करके आत्मशुद्धिके लिए योग साधे। ११-१२

काया, गर्दन और मस्तक समरेखामें अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ अपने नासिकाग्रपर दृष्टि रखकर, पूर्ण शान्तिसे, भय-रहित होकर, ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहकर, मनको मारकर मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। १३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्रसे मतलब है भ्रुकुटिके बीचका भाग। देखो अध्याय ५—२७। ब्रह्मचारीव्रतके माने वीर्यसंग्रह यह एक ही नहीं है, बल्कि ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

इस प्रकार जिसका मन नियममें है, ऐसा योगी आत्माका अनुसन्धान परमात्माके साथ करता है और मेरी प्राप्तिमें रहनेवाली मोक्षरूपी परम शान्ति प्राप्त करता है। १५

हे अर्जुन ! यह समत्व-रूप योग न तो प्राप्त होता है ठूंस-ठूंसकर खानेवालेको, न होता है कोरे उपवासीको, वैसे ही न वह प्राप्त होता है बहुत सोनेवालेको अथवा बहुत जागनेवालेको । १६

जो मनुष्य आहार-विहारमें, अन्यान्य कर्ममें, सोने-जागनेमें परिमित रहता है, उसका योग दुःखभञ्जन हो जाता है । १७

भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मामें स्थिर होता है और मनुष्य कामनामात्रमें निस्पृह हो जाता है तब वह योगी कहलाता है । १८

आत्माको परमात्माके साथ जोड़नेका उद्योग करनेवाले स्थिरचित्त योगीकी स्थिति वायुरहित स्थानमें अचल रहनेवाले दीपककी-सी कही गई है । १९

योगके सेवनसे अंकुशमें आया हुआ मन जहां शान्ति पाता है, आत्मासे ही आत्माको पहचानकर आत्मामें जहां मनुष्य सन्तोष पाता है और इन्द्रियोंसे परे और बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य अनन्त सुखका जहां अनुभव होता है, जहां रहकर मनुष्य मूल वस्तुसे चलायमान नहीं होता और जिसे पानेपर उससे दूसरे किसी लाभको वह अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःखसे भी डिगता नहीं, उस दुःखके प्रसंगसे रहित स्थितिका नाम योगकी स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे विना दृढ़तापूर्वक, साधने योग्य है। २०-२१-२२-२३

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंका पूर्णरूपसे त्याग कर, मनसे ही इन्द्रिय-समूहको

सब दिशाओंसे भलीभांति नियममें लाकर, अचल बुद्धिसे योगी धीरे-धीरे शान्त होता जाय और मनको आत्मामें पिरोकर, दूसरे किसी विषयका विचार न करे। २४-२५

जहां-जहां चञ्चल और स्थिर मन भागे, वहां-वहांसे ( योगी ) उसे नियममें लाकर अपने वशमें लावे। २६

जिसका मन भलीभांति शान्त हुआ है, जिसके विकार शान्त हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

आत्माके साथ निरन्तर अनुसन्धान करता हुआ पाप-रहित हुआ यह योगी सुलभतासे ब्रह्मप्राप्ति-रूप अनन्त सुखका अनुभव करता है। २८

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको भूतमात्रमें और भूतमात्रको अपनेमें देखता है। २९

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टिके सामनेसे दूर नहीं होता और मैं उसकी दृष्टिके सामनेसे दूर नहीं होता। ३०

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्रमें रहने-वाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह वर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। ३१

टिप्पणी—'आप' जब तक है, तब तक तो परमात्मा पर है। 'आप' मिट जाता है—शून्य हो जाता है, तभी एक परमात्माको सर्वत्र देखता है। और अध्याय १३—२३ की टिप्पणी देखिये।

हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख दोनोंको समान समझता है वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन! यह (समत्व-रूपी) योग जो आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चञ्चलताके कारण नहीं देख सकता। ३३

क्योंकि हे कृष्ण! मन चञ्चल ही है, मनुष्यको मथ डालता है और बहुत बलवान है। जैसे वायुको दबाना बहुत कठिन है, वैसे मनका वश करना भी मैं कठिन मानता हूं। ३४

श्रीभगवानने कहा—

हे महाबाहो! सच्ची बात है कि मन चञ्चल होनेके कारण वश करना कठिन है। पर हे

कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वश किया जा सकता है। ३५

मेरा मत है कि—जिसका मन अपने वश नहीं है, उसे योग-साधना बहुत कठिन है; पर जिसका मन अपने वश है और जो यत्नवान् है वह उपाय द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो हो, पर यत्नमें कमीके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पानेसे कौन गति पाता है ? ३७

हे महाबाहो ! योगसे भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्गमें भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलोंकी भांति उभय-भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ३८

हे कृष्ण ! यह मेरा संशय आप दूर करने

योग्य हैं। आपके सिवा दूसरा कोई इस संशयको दूर करनेवाला नहीं मिलनेका। ३९

श्रीभगवानने कहा—

हे पार्थ! ऐसे मनुष्योंका नाश न तो इस लोकमें होता, न परलोकमें। हे तात! कल्याण-मार्गमें जानेवालेकी कभी दुर्गति होती ही नहीं। ४०

पुण्यशाली लोग जिस स्थानको पाते हैं, उसको पाकर, वहां दीर्घ काल तक रहनेपर योगभ्रष्ट हुआ मनुष्य पवित्र और साधनवालेके घर जन्म लेता है। ४१

या ज्ञानवान् योगीके ही कुलमें वह जन्म लेता है। संसारमें ऐसा जन्म अवश्य वहुत दुर्लभ है। ४२

हे कुरुनन्दन! वहां उसे पूर्व जन्मके वुद्धि-

संस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिए आगे बढ़ता है। ४३

उसी पूर्वके अभ्यासके कारण वह अवश्य योगकी ओर खिंचता है। योगका जिज्ञासु भी सकाम वैदिक कर्म करनेवालेकी स्थितिको पार कर जाता है। ४४

और उत्साहसे उद्योग करता हुआ योगी पापमुक्त होकर अनेक जन्मसे विशुद्ध हो परमगति पाता है। ४५

तपस्वीकी अपेक्षा योगी अधिक है; ज्ञानीकी अपेक्षा भी वह अधिक माना जाता है, उसी भांति कर्मकाण्डीसे भी वह अधिक है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन। ४६

टिप्पणी—यहां तपस्वीकी तपस्या फलेच्छा-युक्त है। ज्ञानीसे मतलब अनुभवज्ञानी नहीं।

समस्त योगियोंमें भी जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है, उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं। ४७

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

७

# ज्ञानविज्ञानयोग

*इस अध्यायमें ईश्वरतत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है यह समझानेका आरम्भ किया गया है।*

श्री भगवानने कहा—

हे पार्थ! मेरेमें मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्णरूपसे मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन। १

अनुभव-युक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्णरूपसे कहूंगा। इसे जाननेके बाद इस लोकमें अधिक कुछ जाननेको रह नहीं जाता। २

हज़ारों मनुष्योंमेंसे विरला ही सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी विरला ही मुझे वास्तविक रूपसे पहचानता है। ३

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंभाव यों आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। देखो अध्याय १३, श्लोक ५; और अध्याय १५, श्लोक १६।

यह अपरा प्रकृति बतलायी। इससे भी ऊंची परा प्रकृति यह जीवरूप है। हे महाबाहो! यह जगत् इसके आधारपर चल रहा है। ५

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनोंको

जान। समूचे जगतकी उत्पत्ति और लयका कारण मैं हूं। ६

हे धनंजय! मुझसे ऊंचा दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागेमें मनके पिरोये रहते हैं वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। ७

हे कौन्तेय! जलमें रस मैं हूं; सूर्यचन्द्रमें तेज मैं हूं; सब वेदोंमें ॐकार मैं हूं; आकाशमें शब्द मैं हूं और पुरुषोंका पराक्रम मैं हूं। ८

पृथ्वीमें सुगन्ध मैं हूं, अग्निमें तेज मैं हूं, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूं, तपस्वीका तप मैं हूं। ९

हे पार्थ! समस्त जीवोंका सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वीका तेज मैं हूं। १०

बलवानका काम और रागरहितका बल मैं हूं। और हे भरतर्षभ ! प्राणियोंमें धर्मका अविरोधी काम मैं हूं। ११

जो जो सात्त्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुए जानना। परन्तु मैं उनमें हूं ऐसा नहीं है, वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावोंपर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि ये भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधारपर रहते हैं और उसके वश हैं।

इन त्रिगुणी भावोंसे समस्त संसार मोहित हुआ पड़ा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशीको—वह नहीं पहचानता। १३

मेरी इन तीन गुणवाली दैवी मायाका तरना

कठिन है। पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस मायाको तर जाते हैं। १४

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते। वे आसुरी भाववाले होते हैं और मायाद्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है। १५

हे अर्जुन! चार प्रकारके सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्त करनेकी इच्छावाले अथवा ज्ञानी। १६

उनमेंसे जो नित्य समभावी एकको ही भजनेवाला है वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है ऐसा मेरा मत है। क्योंकि मुझे प्राप्त करनेकी अपेक्षा दूसरी अधिक उत्तम गति

है ही नहीं यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहुत जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेवमय है यों जाननेवाला ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९

अनेक कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरा गया है ऐसे लोग अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न विधिका आश्रय लेकर दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं। २०

जो जो मनुष्य जिस जिस स्वरूपकी भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस उस स्वरूपमें उसकी श्रद्धाको मैं दृढ़ करता हूं। २१

श्रद्धापूर्वक उस उस स्वरूपकी वह आराधना करता है और तद्द्वारा मेरी निर्मित की हुई

और अपनी इच्छित कामनायें पूरी करता है। २२

उन अल्पबुद्धि लोगोंको जो फल मिलता है वह नाशवन्त होता है। देवताओंको भजनेवाले देवताओंको पाते हैं, मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २३

मेरे परम, अविनाशी और अनुपम स्वरूपको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इन्द्रियोंसे अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं। २४

अपनी योगमायासे आच्छादित—ढका हुआ मैं सबके लिये प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत मुझ अजन्म और अव्ययको भलीभांति नहीं पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगतको उत्पन्न करनेका

सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त रहनेके कारण परमात्माके अदृश्य रहनेका भाव जो है वह उसकी योगमाया है।

हे अर्जुन ! हो चुके, वर्तमान और होनेवाले सभी भूतोंको मैं जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख दुःखादि द्वन्द्वके मोहसे प्राणीमात्र इस जगतमें मूर्च्छित रहते हैं। २७

पर जिन सदाचारी लोगोंके पापोंका अन्त हो चुका है और जो द्वन्द्वके मोहसे मुक्त हो गये हैं वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरणसे मुक्त होनेका उद्योग करते हैं वे पूर्णब्रह्मको, अध्यात्मको और अखिल कर्मको जानते हैं। २९

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्वको प्राप्त हुए मुझे मृत्युके समय भी पहचानते हैं। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादिका अर्थ आठवें अध्यायमें आता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि इस संसारमें ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मोंका कर्ता भोक्ता वह है ऐसा समझकर मृत्युके समय शान्त रहकर ईश्वरमें ही तन्मय रहता है और कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती उसने ईश्वरको पहचाना है और उसने मोक्ष पायी है

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

## ८

# अक्षरब्रह्मयोग

*इस अध्यायमें ईश्वरतत्त्व विशेष रूपसे समझाया गया है।*

अर्जुनने कहा—

हे पुरुषोत्तम! इस ब्रह्मका क्या स्वरूप है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं? अधिदैव क्या कहलाता है? १

हे मधुसूदन! इस देहमें अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है? और संयमी आपको मृत्युके समय किस तरह पहचान सकते हैं? २

श्रीभगवानने कहा—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है;

प्राणीमात्रमें स्वसत्तासे जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है। ३

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है। और हे मनुष्यश्रेष्ठ! अधियज्ञ इस शरीरमें रहता हुआ भी यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्मसे लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही हैं, और सब उसीकी कृति है। तब फिर मनुष्यप्राणी स्वयं कर्तापनका अभिमान रखनेके बदले परमात्माका दास बनकर सब कुछ उसे समर्पण क्यों न करे?

अन्तकालमें मेरा ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूपको पाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। ५

अथवा तो हे कौन्तेय! नित्य जिस-जिस स्वरूपका ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूपका अन्तकालमें भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस स्वरूपको पाता है। ६

इसलिए सदा मेरा स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखनेसे अवश्य मुझे पावेगा। ७

हे पार्थ! चित्तको अभ्याससे स्थिर करके अन्यत्र कहीं न भागने देकर जो एकध्यान होता है वह दिव्य परम पुरुषको पाता है। ८

जो मनुष्य मृत्युके समय अचल मनसे, भक्तिमान होकर और योगबलसे भ्रूकुटिके बीचमें अच्छी तरह प्राणको स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन,

नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिन्त्य, सूर्यके समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अन्धकारसे पर-स्वरूपका ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है। ९-१०

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नामसे वर्णन करते हैं, जिसमें वीतरागी मुनि प्रवेश करते हैं, और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस पदका संक्षिप्त वर्णन मैं तुमसे करूंगा। ११

इन्द्रियोंके सब द्वारोंको रोककर, मनको हृदयमें स्थिर करके, मस्तकमें प्राणको धारण करके, समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्मका उच्चारण करता और मेरा चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगतिको पाता है। १२-१३

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमें पाता है। १४

मुझे पाकर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा दुःखके घर ऐसे अशाश्वत पुनर्जन्मको नहीं पाते। १५

हे कौन्तेय ! ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक फिर फिर आनेवाले हैं। परन्तु मुझे पानेके बाद मनुष्यको फिर जन्म नहीं लेना होता। १६

हजार युग तकका ब्रह्माका एक दिन और हजार युग तककी ब्रह्माकी एक रात जो जानते हैं वे रात दिनके जाननेवाले हैं। १७

टिप्पणी—तात्पय, हमारे चौवीस घंटेके रात-दिन कालचक्रके अन्दर एक क्षणसे भी सूक्ष्म हैं। उनकी

कोई कीमत नहीं है। इससे उतने समयमें मिलनेवाले भोगके आकाश पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओरसे उदासीन रहना चाहिये, और उतना ही समय हमारे पास है, उसे भगवद्भक्तिमें, सेवामें व्यतीत कर सार्थक करना चाहिये और यदि आजका आज आत्म-दर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिये।

(ब्रह्माका) दिन आरम्भ होनेपर सब अव्यक्तमेंसे व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उसका प्रलय होता है अर्थात् अव्यक्तमें लय हो जाते हैं। १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्यको समझना चाहिये कि उसके हाथमें बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाशका जोड़ा साथ साथ चलता ही रहता है।

हे पार्थ! यह प्राणियोंका समुदाय इस तरह

पैदा हो होकर, रात पड़नेपर विवश लय पाता है और दिन उगनेपर उत्पन्न होता है। १९

इस अव्यक्तसे परे ऐसा दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियोंका नाश होते हुए भी यह सनातन अव्यक्त भाव नाश नहीं होता। २०

जो अव्यक्त, अक्षर ( अविनाशी ) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पानेके बाद लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता वह मेरा परमधाम है। २१

हे पार्थ! इस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे होते हैं। इसमें भूतमात्र स्थित हैं। और यह सब उसीसे व्याप्त है। २२

जिस कालमें मृत्यु पानेपर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस कालमें मृत्यु पाकर उन्हें

पुनर्जन्म होता है वह काल हे भरतर्षभ! मैं तुझे कहूंगा। २३

उत्तरायणके छः महीनोंमें शुक्लपक्षमें, दिनको, जिस समय अग्निकी ज्वाला चल रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मको पाता है। २४

दक्षिणायनके छः महीनोंमें, कृष्णपक्षमें, रात्रिमें, जिस समय धुआं फैला हुआ हो उस समय मरनेवाला चन्द्रलोकको पाकर पुनर्जन्म पाता है। २५

टिप्पणी—ऊपरके दो श्लोक मैं पूरे नहीं समझता। उनके शब्दार्थका गीताकी शिक्षाके साथ मेल नहीं खाता। उस शिक्षाके अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्गको सेता है, जिसे ज्ञान हो

चुका है, वह चाहे जब मरे तो भी उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकोंका शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकारमें ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, वह मृत्युके समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चन्द्रलोक अर्थात् क्षणिक लोकको पाकर फिर भव-चक्रमें घूमता जाता है। चन्द्रके निजी ज्योति नहीं है।

जगतमें ज्ञान और अज्ञानके ये दो परापूर्वसे चलते आये मार्ग माने गये हैं। एक अर्थात् ज्ञानमार्गसे मनुष्य मोक्ष पाता है; और दूसरे अर्थात् अज्ञानमार्गसे उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। २६

हे पार्थ! इन दो मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहमें नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन! तू सर्वकालमें योगयुक्त रहना। २७

टिप्पणी—दो मार्गोंका जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अन्धकारका—अज्ञानका—मार्ग नहीं पकड़ता, इसीका नाम है मोहमें न पड़ना।

यह वस्तु जान लेनेके बाद वेदमें, यज्ञमें, तपमें और दानमें जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदिस्थान पाता है। २८

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

९

# राजविद्याराजगुह्ययोग

*इसमें भक्तिकी महिमा गाई है ।*

श्रीभगवानने कहा—

तू द्वेषरहित होनेके कारण तुझे मैं गुह्यसे गुह्य अनुभवयुक्त ज्ञान दूंगा जिसे जानकर तू अकल्याणसे बचेगा। १

विद्याओंमें यह राजा है, गूढ़ वस्तुओंमें भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य, धार्मिक, आचारमें लानेमें सहज और अविनाशी है। २

हे परंतप ! इस धर्मपर जिन्हें श्रद्धा

नहीं है, ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्गमें बारंबार भटकते हैं। ३

मेरे अव्यक्त स्वरूपसे यह समूचा जगत भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधारपर—सब प्राणी हैं; मैं उनके आधारपर नहीं हूं। ४

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवोंका पालन करनेवाला हूं; फिर भी मैं उनमें नहीं हूं। परन्तु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूं। ५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं; उनमें मैं हूं और नहीं हूं। यह ईश्वरका योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वरका वर्णन भगवानको भी मनुष्यकी भाषामें ही करना ठहरा,

इसलिए अनेक प्रकारके भाषा-प्रयोग करके उसे सन्तोष देते हैं। ईश्वरमय सब है। इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है। प्राकृत कर्ता नहीं है। इसलिए उसमें जीव नहीं हैं यह कहा जा सकता है। परन्तु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक है उसमें उसकी दृष्टिसे तो वह नहीं है। और यह उसका चमत्कार नहीं तो और क्या कहा जाय ?

जैसे सर्वत्र विचरता हुआ महान वायु नित्य आकाशमें विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा जान। ६

हे कौन्तेय ! समस्त प्राणी कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिमें लय होते हैं, और कल्पका आरम्भ होनेपर मैं उन्हें फिर रचता हूं। ७

मेरी मायाके आधारसे मैं प्रकृतिके प्रभावके

आधीन रहे प्राणियोंके समुदाय-मात्रको वारंवार उत्पन्न करता हूं। ८

हे धनञ्जय ! ये कर्म मुझे बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं उनके विषयमें उदासीनके समान और आसक्ति-रहित वर्तता हूं। ९

मेरे अधिकारके नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगतको उत्पन्न करती है और इस कारणसे हे कौन्तेय ! जगत घटमालकी तरह घूमा करता है। १०

प्राणीमात्रके महेश्वररूप मेरे भावको न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य तनधारीकी अवज्ञा करते हैं। ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वरकी सत्ता नहीं मानते, वे शरीर-स्थित अन्तर्यामीको नहीं

पहचानते और उसके अस्तित्वको न मानकर जड़वादी रहते हैं।

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोहमें डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। १२

इससे विपरीत, हे पार्थ! महात्मागण दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर प्राणीमात्रका आदिकारण ऐसा अविनाशी मुझे जानकर एकनिष्ठासे भजते हैं। १३

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। १४

और दूसरे लोग अद्वैत रूपसे या द्वैत

रूपसे अथवा बहुरूपसे सर्वत्र रहनेवाले मुझको ज्ञानद्वारा पूजते हैं। १५

यज्ञका संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञद्वारा पितरोंका आधार मैं हूं, यज्ञकी वनस्पति मैं हूं, मन्त्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन-द्रव्य मैं हूं। १६

इस जगतका पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने-योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। १७

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पत्ति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भण्डार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूं। १८

धूप मैं देता हूं, वर्षाको भी मैं ही रोकता और बरसने देता हूं। अमरता मैं हूं, मृत्यु मैं हूं और हे अर्जुन ! सत् तथा असत् भी मैं ही हूं। १९

तीन वेदके कर्म करनेवाले, सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्गकी याचना करते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्गमें दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियायें फल प्राप्तिके लिए की जाती थीं और उनमेंसे कई क्रियाओंमें सोमपान होता था उसका यहां उल्लेख है। ये क्रियायें क्या थीं, सोमरस क्या था, वह आज ठीक ठीक कोई नहीं बतला सकता।

इस विशाल स्वर्गलोकको भोग कर वे पुण्य क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमें वापस आते हैं।

इस प्रकार तीन वेदके कर्म करनेवाले, फलकी इच्छा रखनेवाले जन्म-मरणके फेरमें पड़े रहते हैं। २१

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं उन नित्य मुझमें ही रत रहने वालोंके योगक्षेमका भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगीको पहचाननेके तीन सुन्दर लक्षण हैं—समत्व, कर्ममें कौशल, अनन्य-भक्ति। ये तीनों एक दूसरेमें ओतप्रोत होने चाहिये। भक्ति बिना समत्वके नहीं मिलती, समत्व बिना भक्ति नहीं मिलती, और कर्मकौशलके बिना भक्ति तथा समत्वके आभासमात्र होनेका भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको संभाल रखना।

और हे कौन्तेय! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे

देवताको भजते हैं, वे भी, भले ही विधि विना ही, मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधि विना अर्थात् अज्ञानके कारण मुझे एक निरञ्जन निराकारको न जानकर।

मैं ही सब यज्ञोंका भोगनेवाला स्वामी हूं। ऐसा जो मैं, उसे वे सच्चे स्वरूपमें नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

देवताओंका पूजन करनेवाले देवलोकोंको पाते हैं, पितरोंका पूजन करनेवाले पितृलोक पाते हैं, भूत-प्रेतादिको पूजनेवाले उस लोकको पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वर-प्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस उस प्राणीमें रहनेवाले अन्तर्यामी रूपसे भगवान ही ग्रहण करते हैं।

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्ति-पूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। २६

इसलिए हे कौन्तेय! जो करे, जो खाय, जो हवनमें होमे, जो तू दानमें दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना। २७

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बन्धनसे छूट जायगा, और फलत्यागरूपी समत्वको पाकर, जन्म-मरणसे मुक्त होकर मुझे पावेगा। २८

सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूं। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्ति-पूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। २९

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे

भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्यभक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।

वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चय-पूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। ३१

फिर हे पार्थ! जो पापयोनि हैं वे भी और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं वे परमगतिको पाते हैं। ३२

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं, उनका तो कहना ही क्या है? इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोकमें जन्म लेकर तू मुझे भज। ३३

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर अर्थात् मुझमें परायण होकर आत्माको मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ३४

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुन-संवादका राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ।

# १०

## विभूतियोग

*सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें भक्ति आदिका निरूपण करनेके बाद भगवान अपनी अनन्त विभूतियोंका यत्किंचित् दर्शन भक्तोंके निमित्त कराते हैं।*

श्रीभगवानने कहा—

हे महाबाहो! फिर भी मेरा परमवचन सुन। यह मैं तुझ प्रियजनको तेरे हितके लिए कहूंगा। १

देव और महर्षि मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देव और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि कारण हूं। २

मृत्युलोकमें रहता हुआ जो ज्ञानी लोकोंके महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूपमें जानता है वह सब पापमेंसे मुक्त हो जाता है। ३

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, साथ ही अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश, इस प्रकार प्राणियोंके भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं। ४-५

सप्तर्षि, उनके पहलेके सनकादिक चार और (चौदह) मनु मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं और उनमेंसे ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है इसमें संशय नहीं है। ७

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर ज्ञानी मनुष्य भावपूर्वक मुझे भजते हैं। ८

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक दूसरेको बोध करते हुए और मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए संतोष और आनन्दमें रहते हैं। ९

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवाले और मुझे प्रेमपूर्वक भजनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

उनपर दया करके उनके हृदयमें स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करता हूं। ११

अर्जुनने कहा—

हे भगवान! आप परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परम पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

हे केशव! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान! आपके स्वरूपको न देव जानते हैं, न दानव। १४

हे पुरुषोत्तम! हे जीवोंके पिता! हे जीवेश्वर! हे देवोंके देव! हे जगतके स्वामी! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपनेको जानते हैं। १५

जिन विभूतियों-द्वारा इन लोकोंमें आप व्याप्त

हो रहे हैं, आपको अपनी वह विभूतियां मुझे पूर्णरूपसे बतलानी उचित हैं। १६

हे योगिन्! आपका नित्य चिन्तन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं? हे भगवान! किस-किस रूपमें आपका चिन्तन करना चाहिये? १७

हे जनार्दन! अपनी शक्ति और अपनी विभूतिका वर्णन मुझसे विस्तारपूर्वक फिरसे कीजिये। आपकी अमृतमय वाणी सुनते हुए तृप्ति होती ही नहीं। १८

श्रीभगवानने कहा—

हे कुरुश्रेष्ठ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा। उनके विस्तारका अन्त तो है ही नहीं। १९

हे गुडाकेश! मैं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान आत्मा हूं। मैं ही भूतमात्रका आदि, मध्य और अन्त हूं। २०

आदित्योंमें विष्णु मैं हूं; ज्योतियोंमें जगमगाता सूर्य मैं हूं; वायुओंमें मरीचि मैं हूं; नक्षत्रोंमें चन्द्र मैं हूं। २१

वेदोंमें सामवेद मैं हूं, देवोंमें इन्द्र मैं हूं; इन्द्रियोंमें मन मैं हूं और प्राणियोंमें चेतन मैं हूं। २२

रुद्रोंमें शंकर मैं हूं, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूं; वसुओंमें अग्नि मैं हूं, पर्वतोंमें मेरु मैं हूं। २३

हे पार्थ! पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति मुझे समझ। सेनापतियोंमें कार्तिक स्वामी मैं हूं और सरोवरोंमें सागर मैं हूं। २४

महर्षियोंमें भृगु मैं हूं, वाचामें एकाक्षरी ॐ मैं हूं, यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूं और स्थावरोंमें हिमालय मैं हूं। २५

सब वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल) मैं हूं, देवर्षियोंमें नारद मैं हूं, गन्धर्वोंमें चित्ररथ मैं हूं और सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं हूं। २६

अश्वोंमें अमृतमेंसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मैं हूं। २७

हथियारोंमें वज्र मैं हूं, गायोंमें कामधेनु मैं हूं, प्रजा उत्पत्तिका कारण कामदेव मैं हूं, सर्पोंमें वासुकि मैं हूं। २८

नागोंमें शेषनाग मैं हूं, जलचरोंमें वरुण मैं हूं, पितरोंमें अर्यमा मैं हूं और दण्ड देनेवालोंमें यम मैं हूं। २९

दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूं, गिननेवालोंमें काल मैं हूं, पशुओंमें सिंह मैं हूं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूं। ३०

पावन करनेवालोंमें पवन मैं हूं, शस्त्रधारियोंमें परशुराम मैं हूं, मछलियोंमें मगरमच्छ मैं हूं, नदियोंमें गंगा मैं हूं। ३१

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य मैं हूं, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं हूं और वादविवाद करनेवालोंका वाद मैं हूं। ३२

अक्षरोंमें अकार मैं हूं, समासोंमें द्वन्द्व मैं हूं, अविनाशी काल मैं हूं और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हूं। ३३

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूं, भविष्यमें उत्पन्न होनेवालेका उत्पत्तिकारण मैं हूं और

नारी जातिके नामोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूं। ३४

सामोंमें बृहत् (बड़ा) साम मैं हूं, छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूं, महीनोंमें मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओंमें वसन्त मैं हूं। ३५

छल करनेवालेका द्यूत मैं हूं, प्रतापीका प्रभाव मैं हूं, जय मैं हूं, निश्चय मैं हूं, सात्त्विक भाववालोंका सत्त्व मैं हूं। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालोंका द्यूत मैं हूं, इस वचनसे भड़कनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां सारासारका निर्णय नहीं है, किन्तु जो कुछ होता है वह विना ईश्वरकी आज्ञाके नहीं होता यह बतलानेका भाव है। और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला कपटी भी अपना अभिमान छोड़कर कपट त्यागे।

वृष्णिकुलमें वासुदेव मैं हूं, पाण्डवोंमें

धनंजय (अर्जुन) मैं हूं, मुनियोंमें व्यास मैं हूं और कवियोंमें उशना मैं हूं। ३७

शासकका दण्ड मैं हूं, जय चाहनेवालोंकी नीति मैं हूं, गुह्य बातोंमें मौन मैं हूं और ज्ञानवानका ज्ञान मैं हूं। ३८

हे अर्जुन! समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूं। जो कुछ स्थावर या जङ्गम है वह मेरे बिना नहीं है। ३९

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त ही नहीं है। विभूतियोंका विस्तार मैंने केवल दृष्टान्तरूपसे ही बतलाया है। ४०

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उसे मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझ। ४१

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तार-पूर्वक जानकर तुझे क्या करना है ? अपने एक अंशमात्रसे इस समूचे जगतको धारण करके मैं विद्यमान हूं । ४२

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका विभूतियोग नामक दसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

११

# विश्वरूपदर्शनयोग

*इस अध्यायमें भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुनको दिखाते हैं। भक्तोंको यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्यायका पाठ करते मनुष्य थकता ही नहीं।*

अर्जुनने कहा—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपने मुझे जो वचन कहे हैं, उनसे मेरा यह मोह दूर हो गया है। १

प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके सम्बन्धमें मैंने

आपसे विस्तारपूर्वक सुना। उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी, हे कमलपत्राक्ष! सुना। २

हे परमेश्वर! आप जैसा अपना परिचय देते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम! आपके उस ईश्वरी रूपका दर्शन करनेकी मुझे इच्छा होती है। ३

हे प्रभो! उसका दर्शन करना आप मेरे लिए सम्भव मानते हों तो हे योगेश्वर! उस अव्यय रूपका दर्शन कराइये। ४

श्रीभगवानने कहा—

हे पार्थ! मेरे सैंकड़ों और हजारों रूप देख। वे नाना प्रकारके, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकारके हैं। ५

हे भारत! आदित्य, वसु, रुद्र, दो अश्विन और मरुतोंको देख। पहले कभी न देखे हुए ऐसे बहुत आश्चर्य तू देख। ६

हे गुडाकेश! यहां मेरे शरीरमें एकरूपसे स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख ले। ७

इन अपने चर्मचक्षुओंसे तू मुझे नहीं देख सकता। तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूं। तू मेरा ईश्वरी योग देख। ८

संजयने कहा—

हे राजन्! योगेश्वर कृष्णने ऐसा कहकर पार्थको अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया। ९

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक

अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्यशस्त्रोंवाला था। १०

उसने अनेक दिव्य मालायें और वस्त्र धारण किये थे, और उसे दिव्य सुगंधित लेप थे। ऐसे वह सर्वप्रकारसे आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव थे। ११

आकाशमें हज़ार सूर्योंका तेज एक साथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्माके तेज जैसा कदाचित् हो। १२

वहां इस देवाधिदेवके शरीरमें पाण्डवने अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूपमें विद्यमान देखा। १३

फिर आश्चर्यचकित और रोमाञ्चित हुआ धनञ्जय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला। १४

अर्जुनने कहा—

हे देव! आपकी देहमें मैं देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके समस्त प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्माको, समस्त ऋषियोंको, और दिव्य सर्पोंको देखता हूं। १५

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त, अनन्त रूपवाला देखता हूं। आपका अन्त नहीं है, मध्य नहीं है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर! आपके विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूं। १६

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेजपुञ्ज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाईसे दिखायी देनेवाले, अमाप और प्रज्ज्वलित अग्नि

किंवा सूर्यके समान सभी दिशाओंमें देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

आपको मैं जाननेयोग्य परम अक्षररूप, इस जगतका अंतिम आधार, सनातन धर्मका अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

जिसे आदि, मध्य या अन्त नहीं है, जिसकी शक्ति अनन्त है; जिसे अनन्त बाहु हैं, जिसे सूर्यचंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्ज्वलित अग्निके समान है और जो अपने तेजसे इस जगत को तपा रहा है ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। १९

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अन्तरमें और समस्त दिशाओंमें आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन्! यह आपका अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

और यह देवोंका संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धोंका समुदाय '(जगतका) कल्याण हो' यों कहता हुआ अनेक प्रकारसे आपका यश गा रहा है। २१

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंका संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

हे महाबाहो! अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक हाथ, जंघा और पैरवाला, अनेक पेटवाला, और अनेक दाढ़ोंके कारण विकराल दीखनेवाला विशालरूप देखकर लोग व्याकुल हो गये हैं। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

आकाशका स्पर्श करते, झलझलाते, अनेक रंगों वाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर हे विष्णु ! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शान्ति नहीं रख सकता। २४

प्रलयकालके अग्निके समान और विकराल दाढ़ोंवाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं सूझती हैं, न शान्ति मिलती है ; हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हो ! २५

सब राजाओंके संघसहित धृतराष्ट्रके ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुखमें वेगपूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनों ही के सिर चूर होकर आपके दांतोंके बीचमें लगे हुए दिखायी देते हैं। २६-२७

जिस प्रकार नदियोंके वड़े प्रवाह समुद्रकी ओर अग्रसर होते हैं, उस प्रकार आपके प्रज्ज्वलित मुखमें ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

जिस प्रकार पतंग अपने नाशके लिए अधिकाधिक वेगसे जलते हुए दीपकमें कूदते हैं उसी प्रकार आपके मुखमें भी सब लोग बढ़ते हुए वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। २९

सब लोगोंको सब ओरसे निगलकर आप अपने प्रज्ज्वलित मुखसे चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगतको तेजसे पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझे बतलाइये। हे देववर ! आप प्रसन्न होइये ! आप जो आदि कारण हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूं। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवानने कहा—

लोकोंका नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिए यहां आया हुआ हूं। प्रत्येक सेनामें जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमेंसे कोई तेरे लड़नेसे इनकार करनेपर भी बचनेवाले नहीं हैं। ३२

इसलिए तू खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रुको जीतकर धनधान्यसे भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहलेसे ही मार डाला है। हे सव्यसाची! तू तो केवल निमित्तरूप हो जा। ३३

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओंको मैं मार ही चुका हूं। उन्हें तू मार; डर मत; युद्ध कर; शत्रुको तू रणमें जीतनेको है। ३४

संजयने कहा—

केशवके ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते हुए, बारंबार नमस्कार करके, डरते डरते, प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णसे गद्गदकंठसे इस प्रकार कहा। ३५

अर्जुनने कहा—

हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके जगत हर्षित होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह उचित ही है। भयभीत राक्षस इधर उधर भागते हैं और सिद्धोंका समूचा समुदाय आपको नमस्कार करता है। ३६

हे महात्मन्! वे आपको क्यों नमस्कार न करें? आप ब्रह्मासे भी बड़े आदिकर्ता हैं। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! आप अक्षर

हैं, सत् हैं, असत् हैं और इससे जो पर है वह भी आप ही हैं। ३७

आप आदि देव हैं। आप पुराण पुरुष हैं। आप इस विश्वके परम आश्रय-स्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने-योग्य हैं। आप परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! इस जगतमें आप व्याप्त हो रहे हैं। ३८

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हज़ारों बार नमस्कार पहुंचे। और फिर भी आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

हे सर्व! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है, सब कुछ आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप ही सर्व हैं। ४०

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! इस प्रकार सम्बोधित कर मुझसे भूलमें या प्रेममें भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् संगतिमें आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करनेके लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं। ४१-४२

स्थावर जंगम जगतके आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है, तो आपसे अधिक तो कहांसे हो सकता है? तीनों लोकमें आपके सामर्थ्यका जोड़ नहीं है। ४३

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपको, पूज्य ईश्वरको प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूं।

हे देव, जिस तरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करनेयोग्य हैं। ४४

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोमाञ्च हो आये हैं और भयके कारण मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव! अपना पहला रूप दिखलाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये। ४५

पूर्वकी भांति आपका—मुकुटगदाचक्रधारीका—दर्शन करना चाहता हूं। हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्ति! अपना चतुर्भज रूप धारण कीजिये। ४६

श्रीभगवानने कहा—

हे अर्जुन! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्तिसे अपना तेजोमय, विश्वव्यापी,

अनंत, परम आदिरूप दिखाया है; वह तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। ४७

हे कुरुप्रवीर! वेदाभ्याससे, यज्ञसे, अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे, या उग्र तपोंसे तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखनेमें समर्थ नहीं। ४८

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोहमें मत पड़। भय त्यागकर शान्तचित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख। ४९

संजयने कहा—

यों वासुदेवने अर्जुनसे कहकर अपना रूप फिर दिखाया। और फिर शान्तमूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुनको उस महात्माने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुनने कहा—

हे जनार्दन! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देखकर अब मैं शान्त हुआ हूं और ठिकाने आ गया हूं। ५१

श्रीभगवानने कहा—

जो मेरा रूप तूने देखा है, उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखनेको तरसते हैं। ५२

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं, वह दर्शन न वेदसे, न तपसे, न दानसे अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं। ५३

परन्तु हे अर्जुन! हे परंतप! मेरे सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है। ५४

हे पाण्डव! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमें द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका विश्वरूपदर्शन-योग नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

१२

# भक्तियोग

पुरुषोत्तमके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं यों भगवानके कहनेके बाद तो भक्तिका स्वरूप ही सामने आना चाहिये। यह बारहवां अध्याय सबको कण्ठाग्र कर लेना चाहिये। यह छोटेसे-छोटे अध्यायोंमेंसे एक है। इसमें दिये हुए भक्तके लक्षण नित्य मनन करने-योग्य हैं।

अर्जुनने कहा—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरन्तर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके

अविनाशी अव्यक्त स्वरूपका ध्यान धरते हैं, इनमेंसे किस योगीको श्रेष्ठ मानना चाहिये ? १

श्रीभगवानने कहा—

नित्य ध्यान करते हुए मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। २

सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर, सर्वत्र समत्वका पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे समस्त प्राणियोंके हितमें लगे हुए मुझे ही पाते हैं। ३-४

जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा है, उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गतिको देहधारी कष्टसे ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूपके लिए, एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे सन्तोष करना ठहरा। इसीलिए मूर्त्तिपूजाका निषेध करनेवाले भी सूक्ष्मरीतिसे देखनेपर मूर्त्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करनी, मन्दिरमें जाकर पूजा करनी, एक ही दिशामें मुख रखकर पूजा करनी यह सभी साकार पूजाके लक्षण हैं। तथापि साकारके उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है यह तो सबको समझ हो निस्तार है। भक्तिकी पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवानमें विलीन हो जाय और अन्तमें केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जायँ। पर इस स्थितिको साकार द्वारा सुलभतासे पहुंचा जा सकता है इसलिए निराकारको सीधा पहुंचनेका मार्ग कष्टसाध्य कहा गया है।

परन्तु हे पार्थ! जो मुझमें परायण रहकर सब कर्म मुझे समर्पण करके, एकनिष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है, उन्हें मृत्यु-रूपो संसार-सागरसे मैं झट पार कर लेता हूं। ६-७

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस ( जन्म ) के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा। ८

यदि तू मुझमें अपना मन स्थिर करनेमें असमर्थ हो तो हे धनंजय! अभ्यासयोग द्वारा मुझे पानेकी इच्छा रखना। ९

ऐसा अभ्यास रखनेमें भी तू असमर्थ हो तो कर्ममात्र मुझे अर्पण कर, और इस प्रकार

मेरे निमित्त कर्म करते करते भी तू मोक्ष पावेगा। १०

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्ति-निरोधकी साधना। ज्ञान अर्थात् श्रवण और मननादि; ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फलस्वरूप यदि कर्मफलत्याग न दिखायी दे तो अभ्यास वह अभ्यास नहीं है, ज्ञान वह ज्ञान नहीं है और ध्यान वह ध्यान नहीं है।

और जो मेरे निमित्त कर्म करने-भरकी भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोंके फलका त्याग कर। ११

अभ्यासमार्गसे ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग विशेष है। और ध्यानमार्गसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। क्योंकि इस त्यागके अन्तमें तुरन्त शान्ति ही होती है। १२

जो प्राणीमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकार-रहित, सुख दुःखमें समान, क्षमावान, सदा सन्तोषी, योगयुक्त, इन्द्रियनिग्रही और दृढ़ निश्चयी है, और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण किये हैं ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४

जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता, जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

जो इच्छा-रहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चिन्तारहित है, संकल्पमात्रका जिसने त्याग किया है, वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिन्ता नहीं करता, जो आशाएं नहीं बांधता, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, वह भक्ति-परायण मुझे प्रिय है। १७

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ी है, जो निन्दा और स्तुतिमें समान रूपसे वर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे सन्तोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि—भक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

यह पवित्र अमृत रूप ज्ञान जो मुझमें परायण

रहकर श्रद्धापूर्वक भजते हैं, वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

१३

## क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

*इस अध्यायमें शरीर और शरीरीका भेद बतलाया गया है।*

श्री भगवानने कहा—

हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं। १

और हे भारत! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। २

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला

है, कहांसे है, और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेपमें सुन। ३

विविध छन्दोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारसे और उदाहरण युक्तियों द्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्योंमें ऋषियोंने इस विषयको बहुत गाया है। ४

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इन्द्रियां, एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनशक्ति, धृति—यह उसके विकारों सहित क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया। ५—६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं:—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। अहंकार अर्थात् शरीर-सम्बन्धमें विद्यमान अहंता, अहंपना। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इन्द्रियोंमें पांच

ज्ञानेन्द्रियां—नाक, कान, आंख, जीभ और चमड़ा तथा पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुंह और दो गुह्येन्द्रियां। पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियोंके पांच विषय—सूंघना, सुनना, देखना, चखना और स्पर्श करना। संघात अर्थात शरीरके तत्त्वोंको परस्पर सहयोग करनेको शक्ति। धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं किन्तु इस शरीरके परमाणुओंका एक दूसरेसे सटे रहनेका गुण। यह गुण अहंभावके कारण ही सम्भव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृतिमें विद्यमान है। इस अहंताका अमूर्छ मनुष्य ज्ञानपूर्वक त्याग करता है। और इस कारण मृत्युके समय या अन्यान्य आघातोंसे वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी अज्ञानी सबको, अन्तमें तो, इस विकारी क्षेत्रका त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम,

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य, अहंकार-रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंका निरन्तर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें मोह तथा ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियमें नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थानका सेवन, जनसमूहमें सम्मिलित होनेकी अनिच्छा, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यताका भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो विपरीत है वह अज्ञान है। ७-८-९-१०-११

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है सो तुझे कहूंगा। वह अनादि परब्रह्म है; वह न कहा जा सकता है सत्, न कहा जा सकता है असत्। १२

टिप्पणी—ईश्वरको सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्दसे उसकी व्याख्या

या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

जहां देखो वहीं उसे हाथ, पैर, आंखें, सिर, मुंह और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोकमें विद्यमान है। १३

सब इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें मिलता है, तथापि वह स्वरूप इन्द्रियरहित और सबसे अलिप्त है, फिर भी वह सबको धारण करनेवाला है; वह गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। १४

वह भूतोंके बाहर है और अन्दर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप है। १५

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अन्दर है। गति और स्थिरता, शान्ति और अशान्ति हम लोग अनुभव करते हैं, और सब भाव इसीमेंसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है।

भूतोंमें वह अविभक्त है और विभक्त सरीखा भी विद्यमान है। वह जानने-योग्य (ब्रह्म) प्राणियोंका पालक, नाशक और कर्ता है। १६

वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है, अन्धकारसे वह पर कहा जाता है। ज्ञान वही है, जानने-योग्य वही है और ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदयमें अधिष्ठित है। १७

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें मैंने संक्षेपमें बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भावको पाने-योग्य बनता है। १८

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जान। विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं ऐसा जान। १९

कार्य और कारणका हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोगमें हेतु कहा जाता है। २०

प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको भोगता है और यही गुण-संग भली-बुरी योनिमें उसके जन्मका कारण बनता है। २१

टिप्पणी—प्रकृतिको हम लोग लौकिक भाषामें मायाके नामसे सम्बोधित करते हैं। पुरुष जो है जीव है। माया अर्थात् मूलस्वभावके वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस या तमससे होनेवाले कार्योंका फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

इस देहमें स्थित जो परमपुरुष है वह सर्व-साक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृतिको जानता है वह सर्व प्रकारसे कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२,६,१२ और अन्यान्य अध्यायोंकी सहायतासे हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचारका समर्थन करनेवाला नहीं है, वरन् भक्तिकी महिमाका सूचक है। कर्ममात्र जीवके लिए बन्धनकर्ता हैं, किन्तु यदि वह समस्त कर्म परमात्माको अर्पण कर दे तो वह बन्धनमुक्त हो जाता है। और इस प्रकार जिसमेंसे कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अन्तर्यामीको चौबीसों घंटे पहचान रहा है, वह पापकर्म कर ही नहीं सकता। पापका मूल ही

वर्तमान है। जहाँ "मैं" नहीं है, वहाँ पाप नहीं है। यह श्लोक प्रथमत: व सत्रहवीं श्रुति बतलाता है।

कोई ध्यानमार्गसे आत्मद्वारा आत्माको आपमें देखता है। कितने ही ज्ञानमार्गसे और दूसरे कितने ही कर्ममार्गसे। २४

और कोई इन मार्गोंको न जाननेके कारण दूसरोंसे परमात्माके विषयमें सुनकर, सुने हुए पर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्युको तर जाते हैं। २५

जो कुछ वस्तु चर या अचर उत्पन्न होती है, वह हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके, अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुई है ऐसा जान। २६

समस्त नाशवान प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको समभावसे रहा हुआ जो जानता है वही उसे जाननेवाला है। २७

ईश्वरको सर्वत्र समभावसे अवस्थित जो मनुष्य देखता है, वह अपने आपका घात नहीं करता और इससे वह परम गति पाता है। २८

टिप्पणी—समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखने वाला स्वयं उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता। इससे विकारवश न होकर मोक्ष पाता है, अपना शत्रु नहीं बनता।

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्माको अकर्तारूप जानता है वही जानता है। २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्यका आत्मा निद्राका कर्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति निद्राका कर्म

करती है। निर्विकार मनुष्यके नेत्र कोई गन्दगी नहीं देख सकते। प्रकृति व्यभिचारिणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उसके संगसे विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

जब वह जीवोंका अस्तित्व पृथक् होनेपर भी एकमें ही स्थित देखता है और इस कारण सारे विस्तारको उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है, तब वह ब्रह्मको पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभवसे सब कुछ ब्रह्ममें ही देखना ब्रह्मको प्राप्त करना है। उस समय जीव शिवसे भिन्न नहीं रह जाता।

हे कौन्तेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिपायमान होता है। ३१

जिस प्रकार सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिपायमान नहीं होता, वैसे सारी देहमें विद्यमान आत्मा लिपायमान नहीं होता। ३२

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगतको प्रकाश देता है, वैसे हे भारत! क्षेत्री समूचे क्षेत्रको प्रकाशित करता है। ३३

जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद और प्रकृतिके बन्धनसे प्राणियोंकी मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्मको पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

## १४

# गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्रकृतिका थोड़ा परिचय करानेके बाद सहज ही तीनों गुणोंका वर्णन इस अध्यायमें आता है। और यह करते हुए गुणातीतके लक्षण भगवान गिनाते हैं। दूसरे अध्यायमें जो लक्षण स्थितप्रज्ञके देखनेमें आते हैं, बारहवेंमें जो भक्तके देखनेमें आते हैं, वैसे इसमें गुणातीतके हैं।

श्री भगवानने कहा—

ज्ञानोंमें जो उत्तम ज्ञान अनुभव करके समस्त मुनियोंने यह शरीर त्याग करनेपर परम गति पायी है वह मैं तुझे फिर कहूंगा। १

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जिन्होंने मेरा भाव प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकालमें जन्मनेका काम नहीं रहता और प्रलयकालमें व्यथाप्राप्तिका काम नहीं रहता। २

हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्रकी उत्पत्ति होती है। ३

हे कौन्तेय! समस्त योनियोंमें जिन-जिन प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्तिका स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—मैं हूं। ४

हे महाबाहो! सत्त्व, रजस और तमस प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देहके सम्बन्धमें बांधते हैं। ५

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है, और है अनघ ! वह देहीको सुखके और ज्ञानके सम्बन्धमें बांधता है। ६

हे कौन्तेय ! रजोगुण रागरूप होनेके कारण तृष्णा और आसक्तिका मूल है। वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है। ७

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देहधारी मात्रको मोहमें डालता है और वह असावधानी, आलस्य तथा निद्राके पाशमें देहीको बांधता है। ८

हे भारत ! सत्त्व आत्माको शान्तिसुखका संग कराता है, रजस् कर्मका और तमस् ज्ञानको ढककर प्रमादका संग कराता है। ९

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है। सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस्, और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् ऊपर आता है। १०

सब इन्द्रियोंद्वारा इस देहमें जब प्रकाश और ज्ञानका उद्भव होता है, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है ऐसा समझना चाहिये। ११

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और इच्छाका उदय होता है। १२

हे कुरुनन्दन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। १३

अपनेमें सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई हो उस समय

देहधारी मृत्यु पावे तो वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकको पाता है। १४

रजोगुणमें मृत्यु होनेपर देहधारी कर्मसंगीके लोकमें जन्मता है, और तमोगुणमें मृत्यु पानेवाला मूढ़योनिमें जन्मता है। १५

टिप्पणी—कर्मसंगीसे तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनिसे तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक।

सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल होता है। राजसी कर्मका फल दुःख होता है और तामसी कर्मका फल अज्ञान होता है। १६

टिप्पणी—जिसे हमलोग सुख दुःख मानते हैं उस सुख दुःखका उल्लेख यहां नहीं समझना चाहिये। सुखसे मतलब है आत्मानन्द, आत्मप्रकाश। इससे जो उल्टा वह दुःख। १७ वें श्लोकमें यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वगुणमेंसे ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणमेंसे लोभ और तमोगुणमेंसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। १७

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढ़ते हैं, राजसी मध्यमें रहते हैं और अन्तिम गुणवाले तामसीकी अधोगति होती है। १८

ज्ञानी जब गुणोंके सिवा और कोई कर्ता नहीं है ऐसा देखता है और गुणोंसे जो परे है उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है। १९

टिप्पणी—गुणोंको कर्ता माननेवालोंको अहंभाव हो ही नहीं सकता। इससे उसके काम सब स्वाभाविक और शरीरयात्रा भरको होते हैं और शरीरयात्रा परमार्थके लिए ही होनेके कारण उसके कार्यमात्रमें निरन्तर त्याग और वैराग्य होना चाहिये। ऐसा

ज्ञानी सहज ही गुणोंसे परे ऐसे निर्गुण ईश्वरको मानता और भजता है।

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंको तर जाकर देहधारी जन्म, मृत्यु और जराके दुःखसे छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुनने कहा—

हे प्रभो! इन गुणोंको तर जानेवाला किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है? उसके आचार क्या होते हैं? और वह तीनों गुणोंको किस प्रकार पार करता है? २१

श्री भगवानने कहा—

हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता और उनके प्राप्त न होनेपर उनकी इच्छा नहीं करता,

उदासीनकी भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख दुःखमें समतावान रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना समान देखता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर एक समान रहता है, अपनी निन्दा या स्तुति जिसे समान है ऐसा बुद्धिमान जिसे मान और अपमान समान हैं, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें समान-भाव रखता है और जिसने समस्त आरम्भोंका त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है।

२२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ श्लोक एक साथ विचारने.

योग्य हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोकमें कहे अनुसार सत्त्व, रजस् और तमसके क्रमशः परिणाम अथवा चिह्न हैं। अर्थात् जो गुणोंको पार कर गया है उसपर उस परिणामका कोई प्रभाव नहीं पड़ता यहां यह कहनेका तात्पर्य है। पत्थर प्रकाशकी इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ताका द्वेष करता है; उसे विन चाही शान्ति है। उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देनेके बाद उसे स्थिर करके रख देता है, इससे प्रवृत्ति—गति बन्द हो गयी, मोह, जड़ता प्राप्त हुई इस विचार—से वह दुःखी नहीं होता; वरन् तीनों स्थितियोंमें वह एक समान वर्तता है। पत्थर और गुणातीतमें अन्तर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणोंके परिणामोंका, स्पर्शका त्याग किया है और जड़ पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणोंका अर्थात् प्रकृतिके कार्योंका साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी

उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानीके सम्बन्धमें यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोकके कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं' यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है; उदासीन-सा रहता है—अटल रहता है। यह स्थिति गुणोंमें तन्मय हुए हमलोग धैर्य-पूर्वक केवल कल्पनासे समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु उस कल्पनाको दृष्टिमें रखकर हम "मैं" पनेको दिन-दिन घटाते जायँ, तो अन्तमें गुणातीतकी अवस्थाके समीप पहुंचकर, उसकी झांकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थिति अनुभव करता है, उसका वर्णन नहीं कर सकता। वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहजमें अनुभव कर सकते हैं वह शान्ति, प्रकाश, धांधल—अर्थात् प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है। सात्त्विकता यह गुणातीतके

समीपसे समीपकी स्थिति है ऐसा गीतामें स्थान-स्थानपर स्पष्ट किया है, इसलिए मनुष्य मात्रका प्रयत्न सत्त्वगुणका विकास करनेका है। उसे गुणातीतता प्राप्त होगी ही, यह विश्वास रखे।

जो एकनिष्ठ भक्तियोग-द्वारा मेरी सेवा करता है वह इन गुणोंको पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है। २६

और ब्रह्मकी स्थिति मैं ही हूं, शाश्वत मोक्षकी स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्मकी और उत्तम सुखकी स्थिति भी मैं ही हूं। २७

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका गुणत्रय-विभागयोग नामक चौदहवां अध्याय समाप्त-हुआ।

## १५

# पुरुषोत्तमयोग

इस अध्यायमें क्षर और अक्षरसे पर ऐसा अपना उत्तम स्वरूप भगवानने समझाया है।

श्री भगवानने कहा—

जिसका मूल ऊंचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्षको बुद्धिमान लोगोंने वर्णन किया है; इसे जो जानते हैं वे वेदके जाननेवाले ज्ञानी हैं। १

टिप्पणी—'श्वः'का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थका मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसारका प्रतिक्षण रूपान्तर हुआ

करता है इससे वह अश्वत्थ है। परन्तु ऐसी स्थितिमें वह सदा रहनेवाला है और उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है इसलिए वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्मके शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसारका यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्मको जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

गुणोंके स्पर्श द्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोंपलोंवाली उस अश्वत्थकी डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; और कर्मोंका बन्धन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्यलोकमें नीचे पसरी हुई हैं। २

टिप्पणी—यह संसारवृक्षका अज्ञानीकी दृष्टिवाला वर्णन है। उसका ऊँचे ईश्वरमें रहनेवाला मूल वह नहीं देखता, बल्कि विषयोंकी रमणीयतापर मुग्ध रहकर, तीनों गुणों-द्वारा इस वृक्षका पोषण करता है और मनुष्यलोकमें कर्मपाशमें बँधा रहता है।

इसका यथार्थ स्वरूप देखनेमें नहीं आता। इसे अन्त नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई तक गयी हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थ वृक्षको असंगरूपी बलवान शस्त्रसे काटकर मनुष्यको यह प्रार्थना करनी चाहिये—'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है, उस आदि पुरुषकी मैं शरण जाता हूं।' और उस पदको खोजना चाहिये कि जिसे पानेवालेको पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ना नहीं पड़ता। ३-४

टिप्पणी—असंगसे मतलब है असहयोग, वैराग्य। जब तक मनुष्य विषयोंसे असहयोग न करे, उसके प्रलोभनोंसे दूर न रहे, तब तक वह उनमें फंसता ही रहेगा। विषयोंके साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना यह अनहोनी बात है, यह इस श्लोकका मतलब है।

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मामें नित्य निमग्न है, जिसके विषय शान्त हो गये हैं, जो सुख-दुःखरूपी द्वन्द्वोंसे मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पद पाता है। ५

वहां सूर्यको, चन्द्रको या अग्निको प्रकाश फैलानेका काम नहीं होता। जहां जानेवालेको पुनः जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिमें विद्यमान पांच इन्द्रियोंको और मनको आकर्षित करता है। ७

( जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी ) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है, तब जैसे वायु आसपासके मण्डलमेंसे गन्धको ले

जाता है, वैसे ही यह (मनके साथ इन्द्रियों) को साथ ले जाता है। ८

और वह कान, आंख, खाल, जीभ, नाक और मनका आश्रय ग्रहण कर विषयोंका सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहां विषय शब्दका अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, परन्तु उन-उन इन्द्रियोंकी स्वाभाविक क्रियाओंसे तात्पर्य है; जैसे आंखका विषय है देखना, कानका सुनना, जीभका चखना। ये क्रियायें जब विकारवाली—अहंभाववाली होती हैं तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं, तब ये निर्दोष हैं। बच्चा आंखसे देखता या हाथसे स्पर्श करता हुआ विकारको प्राप्त नहीं होता इससे निम्न-लिखित श्लोकमें कहते हैं।

(शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमें रहने-

वाले अथवा गुणोंका आश्रय ग्रहणकर भोग भोगनेवाले ( इस अंशरूपी ईश्वर ) को मूर्ख नहीं देखते, किन्तु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यत्न करनेवाले योगीजन अपने आपमें स्थित ( इस ईश्वर ) को देखते हैं। जिन्होंने आत्मशुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पहचान पाते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्यायमें दुराचारीको भगवानने जो वचन दिया है, उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मासे तात्पर्य है भक्तिहीन, स्वेच्छाचारी, दुराचारी। जो नम्रतापूर्वक श्रद्धासे ईश्वरको भजता है, वह आत्मशुद्ध होता है और ईश्वरको पहचानता है। जो यम-नियमादिकी परवाह न कर केवल बुद्धिप्रयोगसे ईश्वरको पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्तसे शून्य, रामसे शून्य, रामको नहीं पहचानते।

सूर्यमें विद्यमान जो तेज समूचे जगतको प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमें तथा अग्निमें विद्यमान है वह मेरा है ऐसा जान। १२

पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे मैं प्राणियोंको धारण करता हूं, और रस उत्पन्न करनेवाला चन्द्र बनकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूं। १३

प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायुद्वारा मैं चार प्रकारका अन्न पचाता हूं। १४

सबके हृदयोंमें विद्यमान मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उसका अभाव होता है। समस्त वेदों-द्वारा जानने-योग्य मैं ही हूं, वेदोंका जाननेवाला मैं हूं, वेदान्तका प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं। १५

इस लोकमें क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी ऐसे दो पुरुष हैं। भूतमात्र जो हैं वह क्षर हैं और उनमें जो स्थिर हुआ अन्तर्यामी है उसे अक्षर कहते हैं। १६

इसके उपरान्त उत्तम पुरुष वह और है। वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

क्योंकि मैं क्षरसे पर और अक्षरसे भी उत्तम हूं, इससे वेदों और लोकोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात हूं। १८

हे भारत! मोहरहित होकर मुझे पुरुषोत्तमको इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभावसे भजता है। १९

हे अनघ ! यह गुह्यतम शास्त्र मैंने तुझे बतलाया। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बने और अपना जीवन सार्थक करे। २०

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुन-संवादका पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

## १६

# दैवासुरसंपद्विभागयोग

इस अध्यायमें दैवी और आसुरी संपद्का वर्णन है।

श्री भगवानने कहा—

हे भारत! अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण जो दैवी सम्पत्को लेकर जन्मा है उसमें होते हैं।

१-२-३

टिप्पणी--दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसीकी चुगली न करना, अलोलुपता अर्थात् लालसायुक्त न होना—लम्पट न होना ; तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकारकी हीन वृत्तिका विरोध करनेकी प्रबल इच्छा; अद्रोह अर्थात् किसीका बुरा न चाहना या करना।

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान हे पार्थ ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालोंमें होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपनेमें नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखण्ड है ; दर्प अर्थात् बड़ाई, पारुष्यका अर्थ है कठोरता।

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बन्धनमें डालनेवाली मानी गयी है। हे पाण्डव ! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

इस लोकमें दो प्रकारकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ! दैवीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। आसुरीका (अब) सुन! ६

आसुर लोग प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है यह नहीं जानते। उसी प्रकार उन्हें न शौचका न आचारका और न सत्यका भान होता। ७

वे कहते हैं—जगत असत्य, निराधार और ईश्वर-रहित है, केवल नर-मादाके सम्बन्धसे हुआ है। उसमें विषयभोगके सिवा और क्या हेतु हो सकता है? ८

भयंकर काम करनेवाले, मन्दमति, दुष्टगण इस मतसे चिमटे हुए जगत्के शत्रु उसके नाशके लिए बढ़ते हैं। ९

तृप्त न होनेवाली कामनाओंसे भरपूर, दम्भी,

मानी, मदान्ध, अशुभ निश्चयवाले मोहसे दुष्ट इच्छायें ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं। १०

प्रलय पर्यन्त अन्त ही न होनेवाली ऐसी अमाप चिन्ताका आश्रय लेकर, कामोंके परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', यह निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओंके जालमें फंसे हुए, कामी, क्रोधी विषय-भोगके लिए अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। ११–१२

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूंगा; इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रुको तो मारा, दूसरेको भी मारूंगा; मैं सर्वसम्पन्न हूं, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान हूं, सुखी हूं; मैं श्रीमान् हूं, कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ

करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा; ऐसा अज्ञानसे मूढ़ हुए लोग मानते हैं, और अनेक भ्रान्तियोंमें पड़े, मोहजालमें फँसे, विषयभोगमें मस्त हुए अशुभ नरकमें गिरते हैं। १३-१४-१५-१६

अपनेको बड़ा माननेवाले, अकड़बाज़, धन तथा मानके मदमें मस्त हुए (यह लोग) दम्भसे और विधिरहित नाममात्रके ही यज्ञ करते हैं। १७

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लेनेवाले, निन्दा करनेवाले और उनमें तथा दूसरोंमें रहनेवाला जो मैं, उसका द्वेष करनेवाले हैं। १८

इन नीच, द्वेषी, क्रूर, अमंगल नराधमोंको मैं इस संसारकी अत्यन्त आसुरी योनिमें ही बारम्बार डालता हूं। १९

हे कौन्तेय! जन्म-जन्म आसुरी योनिको पाकर और मुझे न पानेसे ये मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

आत्माका नाश करनेवाला नरकका यह त्रिविध द्वार है—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए मनुष्यको इन तीनोंका त्याग करना चाहिये। २१

हे कौन्तेय! इस त्रिविध नरक-द्वारसे दूर रहनेवाला मनुष्य आत्माका कल्याण आचरण करता है, और इससे परम गतिको पाता है। २२

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे भोगोंमें लीन होता है, वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परम गति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधिका अर्थ धर्मके नामसे माने जानेवाले ग्रन्थोंमें बतलायी हुई अनेक क्रियायें नहीं,

बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषोंका दिखाया हुआ संयममार्ग है।

इसलिए कार्य और अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिये। शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर यहां तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है वही अर्थ शास्त्रका यहां भी है। सबको निज निजके नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिये, बल्कि धर्मके अनुभवीके वाक्यको प्रमाण मानना चाहिये, यह इस श्लोकका आशय है।

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका दैवासुर-सम्पद्विभागयोग नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

## १७

# श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचारको प्रमाण मानना चाहिये यह सुनकर अर्जुनको शंका हुई कि जो शिष्टाचारको न मान सके, पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे, उसकी कैसी गति होती है, उसका उत्तर देनेका इस अध्यायमें प्रयत्न है। परन्तु शिष्टाचार-रूपी दीपस्तम्भ छोड़ देनेके बादकी श्रद्धामें भयोंकी सम्भावना बतलाकर भगवानने सन्तोष माना है। और इसलिए श्रद्धा और उसके आश्रयमें होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदिके गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और ॐ तत् सत्की महिमा गायी है।

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचारकी परवाह न कर जो केवल श्रद्धासे ही पूजादि करते हैं, उनकी गति कैसी होती है? सात्त्विक, राजसी या तामसी? १

श्री भगवानने कहा—

मनुष्यमें स्वभावसे ही तीन प्रकारकी श्रद्धा अर्थात् सात्त्विकी, राजसी और फिर तामसी होती है वह तू सुन। २

हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने स्वभावका अनुसरण करती है। मनुष्यको कुछ न कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा वह होता है। ३

सात्त्विक लोग देवताओंको भजते हैं, राजस

लोग यक्षों और राक्षसोंको भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादिको भजते हैं। ४

दम्भ और अहंकारवाले काम और रागके बलसे प्रेरित हुए जो लोग बिना शास्त्रीय विधिका घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग शरीरमें मौजूद पञ्च महाभूतोंको, और अन्तःकरणमें मौजूद मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसोंको आसुरी निश्चयवाले जान। ५-६

आहार भी तीन प्रकारसे प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान ( भी तीन प्रकारसे प्रिय होता ) है। उसका यह भेद तू सुन। ७

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और

मनको रुचिकर आहार सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। ८

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे दाहकारक आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

पहर-भरसे पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूँठा, अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है। १०

जिसमें फलकी इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्त्तव्य समझकर, मनको उसमें लगाकर, होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

हे भरतश्रेष्ठ! जो फलके उद्देशसे और साथ ही दम्भसे होता है, उस यज्ञको राजसी जान। १२

जिसमें विधि नहीं है, अन्नकी उत्पत्ति नहीं है, मन्त्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञको बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

दुःख न दे ऐसा, सत्य, प्रिय हितकर वचन तथा धर्मग्रन्थोंका अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावनाशुद्धि—यह मानसिक तप कहलाता है। १६

समभावी पुरुष जब फलेच्छाका त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकारका तप करते हैं, तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं। १७

जो सत्कार, मान और पूजाके लिए दम्भ-पूर्वक होता है, वह अस्थिर और अनिश्चित तप राजस कहलाता है। १८

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरेके नाशके लिए होता है, वह तामस तप कहलाता है। १९

देना उचित है ऐसी समझसे, बदला मिलनेकी आशाके बिना, देश, काल और पात्रको देखकर जो दान होता है, उसे सात्त्विक दान कहा है। २०

जो दान बदला मिलनेके लिए, अथवा फलको लक्ष्यकर और दुःखके साथ दिया जाता है, वह राजसी दान कहा गया है। २१

देश, काल और पात्रका विचार किये बिना, बिना मानके, तिरस्कारसे दिया हुआ दान तामसी कहलाता है। २२

ब्रह्मका वर्णन ॐ तत् सत् इस तरह तीन प्रकारसे किया गया है और इसके द्वारा पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए। २३

इसलिए ब्रह्मवादी ॐका उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियायें सदा विधिवत् करते हैं। २४

और, मोक्षार्थी 'तत्'का उच्चारण करके फलकी आशा रखे बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियायें करता है। २५

सत्य और कल्याणके अर्थमें सत् शब्दका प्रयोग होता है। और हे पार्थ! भले कामोंमें भी सत् शब्द व्यवहृत होता है। २६

यज्ञ, तप और दानमें दृढ़ताको भी सत् कहते हैं। तत्के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है। २७

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकोंका भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिये, क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही उगता है।

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके होता है, वह असत् कहलाता है। वह न तो यहांके कामका है, न परलोकके। २८

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

# १८

## संन्यासयोग

यह अध्याय उपसंहाररूप माना जा सकता है। उसका या गीताका प्रेरक मन्त्र यह कहलाता है :—'सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है। परन्तु सब धर्मोंके त्यागसे मतलब सब कर्मोंका त्याग नहीं है। परोपकारके कर्मोंमें भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों, उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुनने कहा—

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशि-निषूदन!

संन्यास और त्यागका पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं। १

श्री भगवानने कहा—

काम्य ( कामनासे उत्पन्न हुए ) कर्मोंके त्यागको ज्ञानी संन्यासके नामसे जानते हैं। समस्त कर्मोंके फलके त्यागको बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। २

अनेक विचारशील पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होनेके कारण त्यागनेयोग्य हैं; दूसरे लोगोंका कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं। ३

हे भरतसत्तम! इस त्यागके विषयमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र! त्याग तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। ४

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं वरन् करने-योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकीको पावन करनेवाले हैं। ५

हे पार्थ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है। ६

नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है। मोहके वश होकर यदि उसका त्याग करे, तो वह त्याग तामस माना जाता है। ७

दुःखकारक समझकर कायाकष्टके भयसे जो कर्मका त्याग करता है, वह राजस त्याग है और उससे उसे त्यागका फल नहीं मिलता। ८

हे अर्जुन! करना चाहिये, इस समझसे जो नियत कर्म संग और फलके त्यागपूर्वक

किया जाता है, वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है। ९

संशयरहित हुआ, शुद्धभावनावाला, त्यागी और बुद्धिमान, असुविधाजनक कर्मका द्वेष नहीं करता, सुविधावालेमें लीन नहीं होता। १०

कर्मका सर्वथा त्याग देहधारीके लिए सम्भव नहीं है। परन्तु जो कर्मफलका त्याग करता है, वह त्यागी कहलाता है। ११

त्याग न करनेवालेके कर्मका फल कालान्तरमें तीन प्रकारका होता है—अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है, उसे कभी नहीं होता। १२

हे महाबाहो! कर्म-मात्रकी सिद्धिके लिए सांख्यशास्त्रमें पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे सुन। १३

वे पांच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियायें और पांचवां दैव। १४

शरीर, वाचा अथवा मनसे जो कोई भी कर्म मनुष्य नीतिसम्मत या नीतिविरुद्ध करता है, उसके ये पांच कारण होते हैं। १५

ऐसा होनेपर भी असंस्कारी बुद्धिके कारण जो अपनेको ही कर्ता, मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं हैं। १६

जिसमें अहंकारभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगतको मारते हुए भी नहीं मारता, न बन्धनमें पड़ता है। १७

टिप्पणी—सरसरी तौरसे पढ़नेपर यह श्लोक मनुष्यको भुलावेमें डालनेवाला है। गीताके अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्शके अवलम्बन करनेवाले हैं।

उसका हूबहू नमूना जगतमें नहीं मिल सकता और उपयोगके लिए भी जिस तरह रेखागणितमें काल्पनिक आदर्श आकृतियोंकी आवश्यकता है, उसी तरह धम-व्यवहारके लिए है। इसलिए इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहंता खाक हो गई है और जिसकी बुद्धिमें लेशमात्र भी मैल नहीं है, वह भले ही सारे जगतको मार डाले ऐसा कह सकते हैं। परन्तु जिसमें अहंता नहीं है, उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है, वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान है। वह करते हुए भी अकर्ता है। मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्यके सामने तो एक न मारनेका और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन तत्त्व विद्यमान हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्मके अंग तीन प्रकारके होते हैं—इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी – इसमें विचार और आचारका समीकरण है। पहले मनुष्य कर्तव्य कर्म ( ज्ञेय ) उसकी विधि ( ज्ञान ) को जानता है—परिज्ञाता बनता है, इस कर्मप्रेरणाके प्रकारके बाद वह इन्द्रियों ( करण ) द्वारा क्रियाका कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेदके अनुसार तीन प्रकारके हैं। गुणगणनामें इनका जैसा वर्णन किया जाता है, वैसा सुन। १९

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतोंमें एक ही अविनाशी भावको और विविधतामें एकताको देखता है, उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

भिन्न-भिन्न ( देखनेमें ) होनेके कारण समस्त भूतोंमें जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावोंको देखता है, उस ज्ञानको राजस जान। २१

जिसके द्वारा एक ही कार्यमें बिना किसी कारणके सब आ जानेका भास होता है, जो रहस्य-रहित और तुच्छ है, वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

फलेच्छारहित पुरुषका आसक्ति और रागद्वेषके बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—देखो टिप्पणी ३-८

भोगकी इच्छा रखनेवाले जो कार्य 'मैं करता हू' इस भावसे धांधलपूर्वक करते हैं, वह राजस कहलाता है। २४

जो कर्म परिणामका, हानिका, हिंसाका और अपनी शक्तिका विचार किये बिना मोहके वश होकर मनुष्य आरंभ करता है, वह तामस कर्म कहलाता है। २५

जो आसक्ति और अहंकार-रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलतामें हर्षशोक नहीं करता, वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है। २६

जो रागी है, जो कर्मफलकी इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, मलिन है, हर्ष और शोकयुक्त है, वह राजस कर्ता कहलाता है। २७

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, मक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है वह तामस कर्ता कहलाता है। २८

हे धनंजय ! बुद्धि और धृतिके गुणके अनुसार पूरे और पृथक् पृथक् तीन प्रकार कहता हूं, वह सुन। २९

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय,

बन्ध, मोक्षका भेद जो बुद्धि ( उचित रीतिसे ) जानती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। ३०

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका विवेक अनुचित रीतिसे करती है, वह बुद्धि हे पार्थ! राजसी है। ३१

हे पार्थ! जो बुद्धि अन्धकारसे घिरी हुई है, अधर्मको धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है, वह तामसी है। ३२

जिस एकनिष्ठ धृतिसे मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाका साम्यबुद्धिसे धारण करता है, वह धृति हे पार्थ! सात्त्विकी है। ३३

हे पार्थ! जिस धृतिसे मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थको आसक्ति-पूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। ३४

जिस धृतिसे दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मदको छोड़ नहीं सकता, वह हे पार्थ ! तामसी धृति है। ३५

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकारके सुखका वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्याससे मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःखका अन्त आता है, जो आरम्भमें विष समान लगता है, परि- णाममें अमृत समान होता है, जो आत्मज्ञानकी प्रसन्नतामेंसे उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो आरम्भमें अमृत समान लगता है, पर परिणाममें विष समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

जो आरम्भ और परिणाममें आत्माको मूर्छित

करनेवाला है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

पृथ्वीमें या देवोंके बीचमें स्वर्गमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो प्रकृतिमें उत्पन्न हुए इन तीन गुणोंसे मुक्त हो। ४०

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंके भी उनके स्वभावजन्य गुणोंके कारण विभाग हो गये हैं। ४१

शम, दम, नप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकना ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ न दिखाना, दान, शासन ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४३

खेती, गोरक्षा, व्यापार ये वैश्यके स्वभाव-जन्य कर्म हैं। और शूद्रका स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

अपने-अपने कर्ममें रत रहकर मनुष्य मोक्ष पाता है। अपने कर्ममें रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

जिसके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा समस्त व्याप्त है, उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है, वह मोक्ष पाता है। ४६

परधर्म सुकर होनेपर भी उसकी अपेक्षा विगुण ऐसा स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभावके अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्यको पाप नहीं लगता ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य। गीताकी शिक्षाका मध्यबिन्दु कर्मफलत्याग है, और स्वकर्मकी अपेक्षा अधिक उत्तम कर्तव्य खोजनेपर फलत्यागके लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्मको श्रेष्ठ कहा गया है। सब धर्मोंका फल उसके पालनमें आ जाता है।

हे कौन्तेय! सहज प्राप्त हुआ कर्म सदोष होनेपर भी न छोड़ना चाहिये। जिस प्रकार अग्निके साथ धुएँका संयोग है, उसी प्रकार सब कामोंके साथ दोष मौजूद है। ४८

जिसने सब कहींसे आसक्तिको खींच लिया है, जिसने कामनाओंको त्याग दिया है, जिसने मनको जीत लिया है, वह संन्यासद्वारा नैष्कर्म्य-रूपी परमसिद्धि पाता है। ४९

हे कौन्तेय! सिद्धि प्राप्त होनेपर मनुष्य

ब्रह्मको किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेपमें सुन। ज्ञानकी पराकाष्ठा वही है। ५०

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़ता-पूर्वक अपनेको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्यागकर, रागद्वेषको जीतकर, एकान्त सेवन करके, अल्पाहार करके, वाचा, काया और मनको अंकुशमें रखकर, ध्यानयोगमें नित्यपरायण रहकर, वैराग्यका आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्यागकर, ममता-रहित और शान्त होकर ब्रह्मभावको पाने-योग्य बनता है। ५१-५२-५३

ब्रह्मभावको प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है; भूतमात्रमें समभाव रखकर मेरी परमभक्ति पाता है। ५४

मैं कैसा और कौन हूं इसे भक्तिद्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है।

मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत, अव्यय पदको पाता है। ५५

मनसे सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके, मुझमें परायण होकर, विवेक बुद्धिका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्त लगा। ५६

मुझमें चित्त लगानेपर कठिनाइयोंके समस्त पहाड़ मेरी कृपासे पार कर जायगा, किन्तु यदि अहंकारके वश होकर, मेरी न सुनेगा, तो नाशको प्राप्त होगा। ५७

अहंकारके वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ५८

ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ बलात्कारसे घसीट ले जायगा। ५९

हे कौन्तेय ! स्वभावजन्य अपने कर्मसे बद्ध होनेके कारण तू जो मोहके वश होकर नहीं करना चाहता, वह बरबस करेगा। ६०

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करता है और अपनी मायाके बलसे चाकपर चढ़े हुए घड़ेकी तरह उन्हें चक्कर-चक्कर घुमाता है। ६१

हे भारत ! तू सर्वभावसे उसकी शरण ले। उसकी कृपासे परमशान्तिमय अमरपदको पावेगा। ६२

इस प्रकार गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैंने तुझे

वतलाया। इस सारेका भलीभांति विचार करके
तुझे जो अच्छा लगे सो कर। ६३

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परम वचन
सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझे
तेरा हित कहूंगा। ६४

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए
यज्ञ कर, मुझे वन्दन कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा,
यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है। ६५

सब धर्मोंका त्याग करके एक मेरी ही शरण
ले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक
मत कर। ६६

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो
सुनना नहीं चाहता है और जो मेरा द्वेष करता है,
उसे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

परन्तु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी परमभक्ति करनेके कारण निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करेगा। ६८

उसकी अपेक्षा मनुष्योंमें मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और इस पृथ्वीमें उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नहीं है। ६९

हमारे इस धर्म्यसंवादका जो अभ्यास करेगा, वह मुझे ज्ञानयज्ञ द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है। ७०

और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहाँ बसते हैं उस शुभलोकको प्राप्त करेगा। ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस

ज्ञानका अनुभव किया है, वही इसे दूसरेको दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थ सहित सुना जानेवालोंके विषयमें ये दोनों श्लोक नहीं हैं।

हे पार्थ! यह तूने एकाग्रचित्तसे सुना? हे धनंजय! इस अज्ञानके कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया?

अर्जुनने कहा—

७२

हे अच्युत! आपको कृपासे मेरा मोह नाश हो गया है। मुझे होश आ गया है, शंकाका समाधान हो जानेसे मैं स्वस्थ हो गया हूं। आपका कहा करूंगा।

संजयने कहा—

७३

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमाञ्चित करनेवाला ऐसा अद्‌भुत संवाद मैंने सुना।

७४

व्यासजीकी कृपासे योगेश्वर कृष्णके श्रीमुखसे मैंने यह गुह्य परमयोग सुना। ७५

हे राजन्! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत और पवित्र संवादको स्मरण कर करके, मैं बारम्बार आनन्दित होता हूं। ७६

हे राजन्! हरिके उस अद्भुत रूपको स्मरण कर करके मैं बहुत विस्मित होता हूं और बारंबार आनन्दित होता रहता हूं। ७७

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ हैं, वहीं श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान, और धनुर्धारी अर्जुनसे मतलब है तदनुसारिणी क्रिया। इन दोनोंका संगम जहां हो,

यहां सञ्जयके कहे हुएके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

[ संन्यासयोग

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका संन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

ॐ शान्तिः

# भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढ़ते, मनन करते और उसका अनुसरण करते मुझे आज चालीस वर्षसे ऊपर हुए। मित्रोंने ऐसी इच्छा दिखाई कि इसे मैंने जिस रीतिसे समझा है वह मुझे गुजरातियोंको बतलाना चाहिए। मैंने उसका अनुवाद कर दिया। अनुवाद करनेको अपनी योग्यता विद्वानकी दृष्टिसे देखने बैठूं तो कुछ भी नहीं है यह कहना पड़ेगा; आचरणकी दृष्टिसे ठीक ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छप गया है। बहुतेरी गीताओंके साथ संस्कृत भी होती है—इसमें जानकर संस्कृत नहीं रखी गयी। संस्कृत सब जानें तो मैं पसन्द करता हूं। लेकिन संस्कृत सब कभी जाननेके नहीं हैं। दूसरे, संस्कृतमें तो बहुत सस्ते संस्करण मिल सकते हैं। इस लिए संस्कृत छोड़कर क़द और कीमत बचानेका निश्चय किया गया। उन्नीस पन्नेकी प्रस्तावना और १८७ पन्नेका अनुवाद है—जेबमें रहने

लायक आवृत्तिकी १०००० प्रतियां छपाई गयी हैं। उसका दाम दो आना है। मुझे लालच तो ऐसा है कि हरेक गुजराती यह गीता पढ़े, विचारे और उसके अनुसार चले। इसे विचारनेका सहज उपाय यह है कि संस्कृतका खयाल किये बिना ही उसमेंसे अर्थ करनेका प्रयत्न करना और फिर उसका अमल करना। जैसे, जो ऐसा अर्थ करते हैं कि गीता यह स्वजन पर-जनका भेद रखे बिना दुष्टोंका संहार करना सिखाती है उन्हें अपने दुष्ट मा बाप या दूसरे प्रिय जनोंका संहार करनेमें लग जाना चाहिए। वह ऐसा कर तो सकते नहीं, तब संहार करनेकी जो बात आती है वहां किसी दूसरे प्रकारका संहार होना संभव है यह सहजमें पढ़नेवालेके ध्यानमें आजायगा। स्वजन परजनमें भेद न रखनेकी बात तो गीतामें पन्ने-पन्नेमें आती है। यह किस प्रकार हो सकती है? यों सोचते-सोचते हम इस अर्थ पर पहुंचते हैं कि गीताकी ध्वनि यह है कि अनासक्ति पूर्वक सब काम करना। क्योंकि पहले ही

अध्यायमें अर्जुनके सामने स्वजन परजनका झगड़ा खड़ा हो जाता है। ऐसा भेद मिथ्या है और हानिकारक है, यह गीताने प्रत्येक अध्यायमें निरूपण किया है। गीताको मैंने अनासक्तियोगका नाम दिया है। यह क्या है, यह किस प्रकार सीखा जा सकता है, अनासक्तिके लक्षण क्या हैं, यह सब उपरोक्त पुस्तकमेंसे जाननेकी इच्छावाले जान सकेंगे। गीताका अनुकरण करते हुए मुझसे यह युद्ध शुरू किये बिना नहीं रहा गया। एक मित्रने तार भेजा है तदनुसार मेरे लिए यह धर्मयुद्ध है। और उसके ठीक आखिरी फैसलेके समय यह पुस्तक निकली है यह मेरे लिए शुभ शकुन है। यह लेख अनासक्तियोगमें गुजराती संस्करणके लिए लिखा गया था। उसीका हिन्दी अनुवाद आपके हाथमें है।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी

# नवजीवन-माला